तेरहवां हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

कानपुर

का

कार्य विवरण (प्रथम भाग)

प्रकाशक—
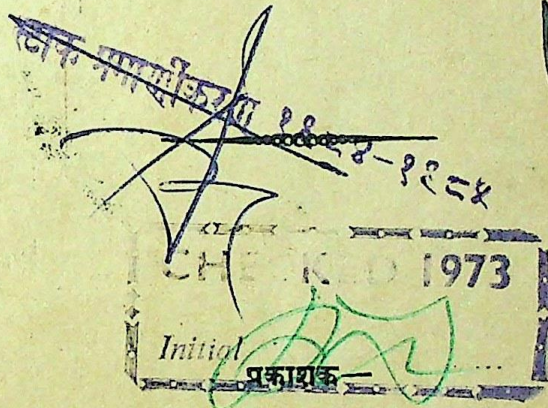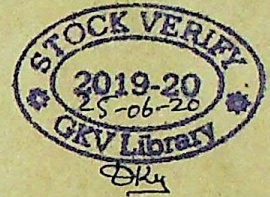
स्वागत कारिणी समिति कानपुर

सन् १९२३

भगवानदास गुप्त के प्रबन्ध से कमर्शल प्रेस, जुही-कानपुर में मुद्रित.
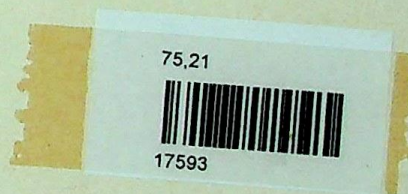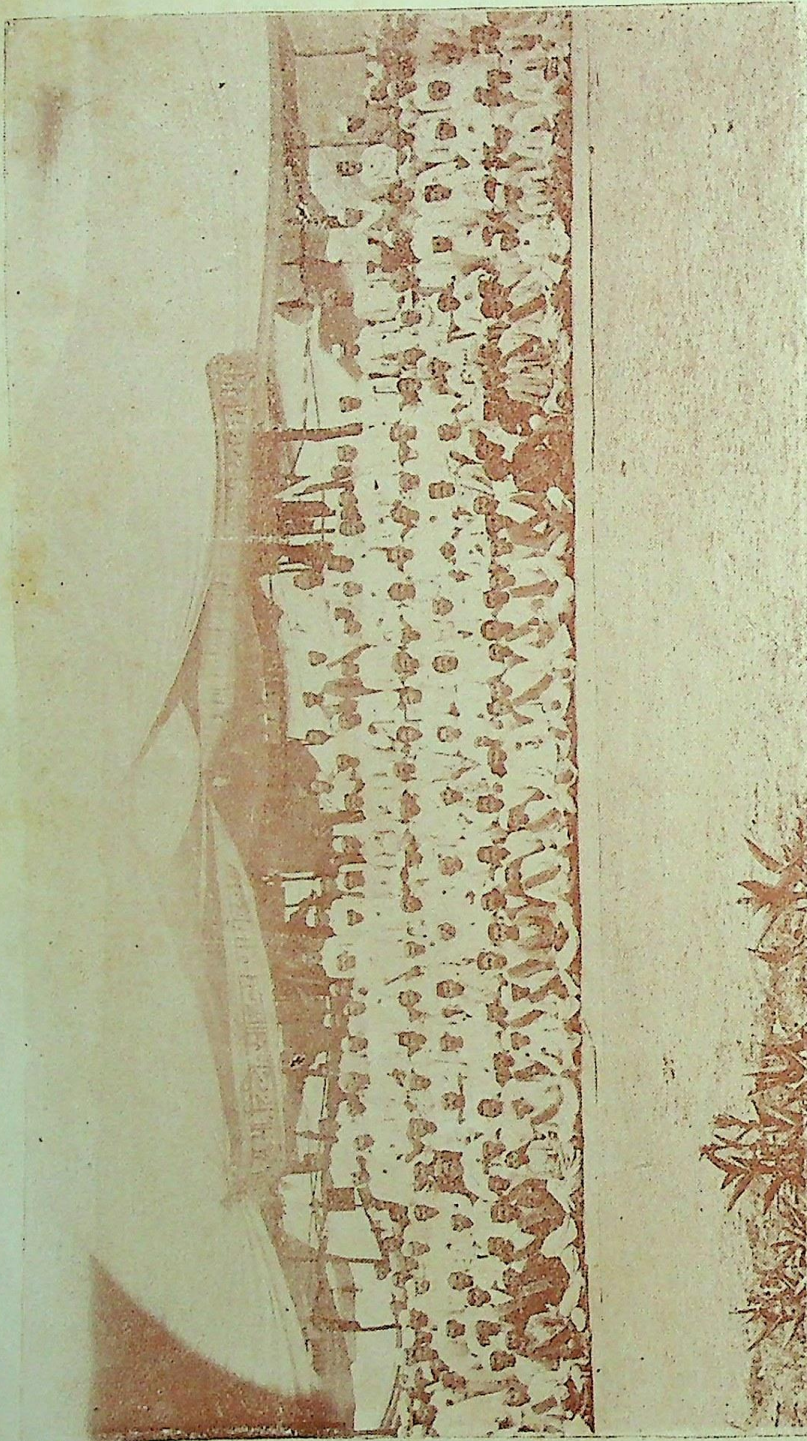
तेरहवां हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कानपुर।

त्रयोदश हिन्दी साहित्य सम्मेलन कानपुर का कार्य्य-विवरण

प्रथम दिवस ।

३॥ बजे के करीब स्वागतकारिणी के सभापति के साथ निर्धारित सभापति तथा हिन्दी संसार के प्रमुख, अग्रगण्य महानुभावों का सभा-मण्डप में प्रवेश हुआ। मण्डप परम सुशोभित था। मंच पर हिन्दी के मान्य पण्डितों की भीड़ थी। जय-घोष और पुष्प-वर्षा की परम प्रचुरता थी। आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में "शन्नोमित्रः... शान्तिरेधि इत्यादि, और नमस्ते त्वामेव प्रत्यक्षं"...इत्यादि मन्त्र-पाठ हुआ, तत्पश्चात् मारवाड़ी विद्यालय के बालकों ने वन्देमातरम् का गान किया जिस के बाद राष्ट्रीय कान्यकुब्ज स्कूल के छात्रों ने श्रीयुत जगमोहन विकसित रचित नीचे लिखा स्वागत-गान गाया :—

बन्धुगण! स्वागत सादर आज ;
सफल हुआ श्रम, सफल हुआ यह आयोजन, यह साज।

अठिलाता फिरता समीर है सुख से चारों ओर;
गगन भानु-दीपक लेकर यह निरख रहा, शुभ काज।
बन्धु! बिछे हैं नयन पांवड़े, इन पर धर पद-पद्म—
सम्मेलन-मण्डप के भीतर जाओ समुद विराज;
और करो निर्धारित मिलजुल वे उपाय, वे यत्न,
जिन से विकसित हो हिन्दी का हिन्द-राष्ट्र में राज॥

इस के पश्चात 'सनेही' जी ने मंच पर खड़े हो कर ओजस्विनी वाणी से स्वरचित पद्य पढ़ा—

सम्मेलन है। सरस सुधा में शराबोर है।
उमण्ड रहा, आनन्द सिन्धु की सी हिलोर है।
चहक उठा है चित्त चकित सा यह चकोर है,
जिधर उदित मुखचन्द्र, उधर ही लगी डोर है।
यशश्चन्द्रिका आप की दूर दूर की चांदनी।
श्री चरणों का आगमन कानपुर की चांदनी॥
अक्षयवट-सङ्कल्प, मातृभाषा उन्नति का,
प्रेम गङ्ग में मिलन सूर-नन्दिनी सुमति का।
सरस्वती का है प्रवाह अप्रतिहत गति का,
मधुमय माधव निकट समय सुन्दर ऋतुपति का।
पुण्य भूमि का पुण्य फल मिला आज ही आगया।
मानों ब्रह्मावर्त में तीर्थराज ही आ गया॥
जन्मभूमि के लाल, दृगों के तारे आये,
हम को है यह गर्व कि "आप हमारे आये"।
हिन्दी-हित में निरत हिन्द के प्यारे आये,
लड़ा रहे हैं जान कि, नाव किनारे आये।
कर्णधार हैं देश के धैर्य धर्म आवास हैं।
टण्डन मण्डन मही के श्री पुरुषोत्तमदास हैं॥
करता पङ्खा पवन, मन्द झोंके आते हैं,
करते आदर विटप वृन्द झुक झुक जाते हैं।
छिड़क रहे मकरन्द बुन्द रस बरसाते हैं।
अलि-कुल, कोकिल, कीर, आप का यश गाते हैं।
फूलबाग़ में खिल रहे छाई छटा अनन्त है।
स्वागत को श्री मान के, आया विमल वसन्त है॥
आये विद्वद्वृन्द सुकवि महिमा से मण्डित,
प्रतिभा-पूर्ण, प्रवीण, परम पटु, पूरे पण्डित।
जिनमें अद्भुत शक्ति और है ओज अखण्डित,
कर सकते हैं काल दण्ड को भी जो दण्डित।
दीन विदुर के द्वार पर योगीश्वर को देखते।
"कभी उन्हें हम कभी हैं अपने घर को देखते"।
होते भूषण आज भव्य भूषण भर देते,
चिन्तामणि चिन्तना-शक्ति को फिर कर देते।

मृदुता से मतिराम रसा रसमय कर देते,
होते ललित, प्रताप, पूर्ण प्रतिभा-वर देते।
अब तो कांटे ही रहे कहाँ रहे वे फूल हैं।
रस सिद्धों की जगह पर तुक्कड़ तीक्ष्ण त्रिशूल हैं॥

आयें प्रेमी परम राष्ट्र भाषा के आयें,
हिन्दी सेवा करें पदों पर बलि बलि जायें,
क्षमाशील हैं आप, आप का यह स्वभाव है;
निज सेवक पर सदा आप का दयाभाव है।
सेवा कुछ बन पड़े हमें यह बड़ा चाव है,
वचनों का दारिद्र्य मधुरता का अभाव है।

भाव भरे हैं और हम कहते भी, थकते नहीं।
पर, अमृतध्वनि है कहां, तुतला भी सकते नहीं॥
पारिजात हैं आप, मनोरथ हम पायेंगे;
पाकर सुयश-सुगन्धि मधुप मन मंडलायेंगे।
'गुन गुन' करते हुए आप के गुण गायेंगे,
बार बार हम हृदय-पुष्प सन्मुख लायेंगे।

माना हो सेमल सुमन, सरसी का सारस न हो।
भक्ति भाव की भेंट है, नहीं अगर कुछ रस न हो॥
कर सकते हैं पद्म प्रभाकर की क्या सेवा,
देते हैं क्या मोर मेघ-माला को मेवा।
देती कितना सलिल महासागर को रेवा,
करते ही हैं पार महज्जन जन का खेवा।

हों शवरी के बेर ये द्विज के चावल चार हों।
सूखे नीरस भाव ये भगवन् अङ्गीकार हों॥
हिन्दी का साहित्य हमारा जीवन-धन है,
भव के भ्रम में भ्रमित जीव को यह उपवन है।
सींच रहे हैं आप प्रेम-जल मानस मन है,
दिन पर दिन लहलहा रहा यह हरा चमन है।

खिली न हो जिस में कली अब ऐसी डाली नहीं।
हरी भरी हैं क्यारियां, कोई भी खाली नहीं॥
बढ़े उच्च साहित्य यही पुरुषोत्तम वर दें,
करुणा-कर हो कृपा-कोर करुणा कर धर दें।
नयनों की निधि मिले सुधा-सर मानस कर दें,
भाषा का भाण्डार-भाव रत्नों से भर दें।

प्यारी हिन्दी हिन्द के हरे हृदय का हार हो।
नगर नगर में नागरी लिपि का प्रबल प्रचार हो ॥
ऐसी जागे ज्योति जगमगा उठे भारती,
चन्द्र सूर फिर उठें उतारें भ्रातृ-आरती।
"विश्व-वन्दिता सकल विश्व को तू संवारती,
पर, भारत पर पुण्यमयी तू प्राण वारती।
निज वर पुत्रों को वही माता फिर सम्मान दे।
खोल सकें मुंह विश्व में ऐसा जीवन-दान दे" ॥
मिलें गले से गले हाथ से हाथ मिलायें,
जीतें जीवन-समर अमर पद नर वर पायें।
बीड़ा लेकर बढ़ चलें कह कह वन्देमातरम्।
उठे प्रतिध्वनि गगन से, रह रह, वन्देमातरम् ॥

इसके पश्चात् स्वागत कारिणी समिति के अध्यक्ष पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने भाषण का अंश पढ़कर सुनाया। शेष पं० बालकृष्ण शर्मा को पढ़ने के लिये दिया।

स्वागताध्यक्ष का भाषण।

वक्तव्य

तद्दिव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे।
यत्प्रसादात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसच्छटाः ॥ १ ॥
करबदरसदृशमखिलं भुवनतलं यत्प्रसादतः कवयः।
पश्यन्ति सूक्ष्ममतयः सा जयति सरस्वती देवी ॥ २ ॥

औपचारिक।

प्यारे भाइयो,

कानपुर-नगर के निवासियों ने आप का स्वागत करने के लिए मेरी योजना की है। मुझे आज्ञा दी गई है कि मैं आप का स्वागत करूं। अतएव मैं आप का स्वागत करता हूं; हृदय से स्वागत करता हूं; बड़े हर्ष, बड़े आदर और बड़े प्रेम से स्वागत करता हूं—

स्वागतं वो महाभागाः स्वागतं वोऽस्तु सज्जनाः
स्वागतं वो बुधः श्रेष्ठाः स्वागतं वः पुनः पुनः

अनेक कष्ट और अनेक असुविधायें सहन कर के आप ने अपने दर्शन से हम लोगों को जो कृतार्थ किया है उसके लिये हम कानपुर के नागरिक, आप के अत्यन्त कृतज्ञ हैं। हमारे प्रणयानुरोध की रक्षा के लिए, आप ने यहां पधारने की जो कृपा की है तदर्थ हम आप को हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

मैं ही क्यों इस श्रेयोवर्धक काम के लिये चुना गया, इस का कारण मैं क्या बताऊं।

बताना चाहें तो वही महाशय बता सकते हैं जिन्होंने इस निमित्त मेरी नियुक्ति की है। जो इस नगर का निवासी नहीं; रहने के लिए जिस के अधिकार में निज की एक फूस की कुटिया तक नहीं; वाहन के नाम से जिसके पास अपने दो शक्तिहीन, निर्बल और कृश पैरों के सिवा और कुछ भी नहीं — वह आप का स्वागत करके आप को आराम से कैसे रख सकता है? आप का आतिथ्य करने और आप को आराम से रखने की लौकिक सामग्री यद्यपि मेरी पहुंच के बाहर है, तथापि मेरे पास एक वस्तु की कमी नहीं। वह है आप के ठहरने के लिये स्थान। भगवान मधुसूदन का हृदय इतना विशाल है कि युगान्त में समस्त लोक, विस्तार सहित, उस में समा जाते हैं। परन्तु जब तपोधन नारद जी उन को दर्शन देने आये तब भगवान के उस उतने विशाल हृदय में भी, मुनिवर के आगमन से उत्पन्न, आनन्द न समा सका; वह छलक कर बाहर वह निकला—

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो
जगन्ति यस्यां सविकाशमासत
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्त-
पोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः

परन्तु, विश्वास कीजिये आपको ठहराने के लिए मैंने अपने हृदयस्थल को भगवान के हृदय से भी अधिक विशाल बना लिया है। आप वहां सुख से रह सकते हैं। मेरे जिस हृदय में आप के सम्बन्ध का मेरा भक्ति-भाव, अपनी समस्त सेना साथ लिए हुए, मुद्दतों से डेरा डाले पड़ा है वहां जगह की कमी नहीं। वहां तो आप को ठहराने के लिए सब तरह की तैयारी बहुत पहले ही से हो चुकी है।

मैं एक व्यक्तिगत निवेदन करने के लिए आप की आज्ञा चाहता हूं। हिन्दी का यह तेरहवां साहित्य-सम्मेलन है। इस के पहले एक को छोड़कर और किसी सम्मेलन में अभाग्यवश मैं नहीं उपस्थित हो सका। अस्वस्थता के सिवा इस का और कोई कारण नहीं। मैं दूर की यात्रा नहीं कर सकता और बाहर बहुत कम रह सकता हूं। परन्तु मेरे सुनने में आया है कि कुछ लोगों ने मेरी अनुपस्थिति का कुछ और ही कारण कल्पित किया है। वे समझते हैं कि मेरे उपस्थित न होने का कारण है मेरा ईर्ष्या-द्वेष, मेरा मद और मत्सर, मेरा गर्व और पाखण्ड। अतएव मैं चाहता था कि सम्मेलन के प्रधान कार्यकर्ता मुझे कोई ऐसा काम देते जिससे मुझ पर गुप्त रीति से किये गये इन निर्मूल दोषारोपणों का आपही आप परिहार हो जाता। मेरी हार्दिक इच्छा थी कि सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए समागत सज्जनों की सेवा का काम मुझे दिया जाता। तो मैं आप को अपना इष्टदेव समझ कर पादप्रक्षालन से आरम्भ करके आप की षोड़शोपचार पूजा करता। ऐसा करने से मेरा पूर्व निर्दिष्ट दोषारोपजात धब्बा भी धुल जाता, सम्मेलन के विषय में मेरे भावों का भी पता लग जाता और साथ ही इस जरा-जीर्ण अशक्त शरीर से पुण्य का सम्पादन भी कुछ हो जाता। परन्तु इस पवित्र काम से मैं वंचित रक्खा गया और अनुरक्ति के वशीभूत होने से इस वंचना को भी मैंने अपने सौभाग्य का सूचक ही समझा। तथापि मन मेरा फिर भी नहीं मानता। अतएव मैं आप की मानसिक अर्चना करता हूं; आप भी कृपा करके उसे उसी भाव से ग्रहण कीजिये। आसन अपना तो आप के लिए मैंने पहले ही छोड़ दिया है। स्वागत भी मैं आप का कर चुका। आनन्द वाष्पों से मैं अब आप के पैर धोता हूं। मेरी इन उक्तियों में प्रयुक्त वर्णों में यदि कुछ भी माधुर्य हो तो मैं उसी को मधुपर्क मान कर आप को अर्पण करता हूं। विनीत वचनों ही को फूल समझ कर आप पर चढ़ाता हूं, और नम्र-

शिरस्क होकर प्रार्थना करता हूं—

वन्दे भवन्तं भगवन् प्रसीद

आपके आतिथ्य और आपके स्वागत के लिए जो प्रबन्ध किया गया है वह, मैं जानता हूं, अनेक अंशों में त्रुटिपूर्ण है। उस में बहुत तरह की न्यूनतायें हैं। पर उन त्रुटियों और न्यूनताओं का कारण कर्त्तव्य की अवहेलना नहीं। उनका कारण कुछ तो असामर्थ्य, कुछ अवान्तर बातें और कुछ अनुभव की कमी है। परन्तु त्रुटियों और न्यूनताओं के होने पर भी, मैं आप को विश्वास दिलाता हूं कि आप के विषय में कानपुर-नगर के निवासियों के, हृदयों में हार्दिक भक्ति-भाव और प्रेम की कमी नहीं, श्रद्धा और समादर की कमी नहीं, सेवा और शुश्रूषैषणा की कमी नहीं। आशा है, आप हमारे आन्तरिक भावों से अनुप्राणित होकर हमारी त्रुटियों पर ध्यान न देंगे, क्योंकि—

भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः

आपके आतिथ्य के लिए किया गया प्रबन्ध यदि आप को कुछ भी सन्तोषजनक और कुछ भी सुभीते का हो तो उसका श्रेय स्वागत-समिति के कार्यकर्त्ताओं, सम्मेलन के सहायकों और स्वयंसेवकों को है। रहीं त्रुटियां और न्यूनतायें, सो उन का एक मात्र उत्तरदाता, अतएव सब से बड़ा अपराधी, मैं हूं। उस के लिए जो दण्ड आप मुझे देना चाहें, निःसङ्कोच दें। क्योंकि अपनी असमर्थता को जान कर भी मैंने इस कार्यभार को अपने ऊपर ले लिया है। और जान बूझ कर अपराध करनेवाला औरों की अपेक्षा दण्ड का अधिक अधिकारी होता है।

२—कानपुर की स्थिति।

जिस नगर में आप पधारे हैं वह अभी कल का बच्चा है। न वह बम्बई और कलकत्ते की बराबरी कर सकता है, न लाहौर और लखनऊ की, न काशी और प्रयाग की, न भागलपुर और जबलपुर की। सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले तो इसका अस्तित्व तक न था। १८०१ ईसवी में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अवध के नवाब वज़ीर से कुछ ज़िले पाये तब उस ने यहां पर एक मिलिटरी पोस्ट (Military Post) क़ायम किया—उस ने इस जगह को अपनी छावनी बनाया—और कुछ फौज यहाँ रख दी। तब से इस का नाम कंपू पड़ा और वही कालान्तर में कानपुर हो गया। इस नगर के आसपास जो मौजे थे अथवा हैं उनमें सीसामऊ सब से अधिक पुराना है और अब तक बना हुआ है। आठ सौ वर्ष से भी अधिक समय हुआ, कानपुर के आसपास का भू-भाग क़न्नौज के राजा जयचन्द्र के पितामह गोविन्द चन्द्र के अधिकार में था। वह कोटि नाम के परगने या तअल्लुके के अन्तर्गत था। इसका पता एक दान-पत्र से लगा है, जो कुछ समय पूर्व, इसी ज़िले के छत्रपुर नामक गांव में, मिला था। उस में लिखा है कि ससईमऊ (अर्थात् वर्तमान सीसामऊ) गाँव को गोविन्द चन्द्रदेव ने साहुल शर्मा नाम के एक ब्राह्मण को, विक्रम संवत ११७७ में, दे डाला था।

तब से इस प्रान्त में क्या क्या परिवर्तन हुए, इस का विश्वसनीय ऐतिहासिक वर्णन मेरे देखने में नहीं आया। जो कुछ ज्ञात है वह इतना ही कि जब से अंगरेज़ी छावनी यहां क़ायम हुई तभी से इस नगर की नीव पड़ी। नया होने पर भी व्यापार और व्यवसाय में यद्यपि इस नगर ने बड़ी उन्नति की है तथापि आज से कोई तीस पैंतीस वर्ष पूर्व, यहां दो चार मनुष्यों को छोड़ कर और कोई हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य का नाम तक शायद न

जानता था। इस भाषा और इस भाषा के साहित्य के बीज-वपन का श्रेय परलोकवासी पण्डित प्रतापनारायण मिश्र को है। उन्हीं के पुण्यप्रताप से आज कानपुर को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है कि हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि के साधनों पर विचार करने के लिए आपने, मुड़िया-लिपि के इस दुर्भेद्य दुर्ग में, पधारने की कृपा की है।

यहां पर हिन्दी-साहित्य का बीज-वपन हुए यद्यपि थोड़ा ही समय हुआ तथापि मातृभाषा-भक्तों और साहित्य-सेवियों की कृपा से वह अङ्कुरित होकर शीघ्र ही पल्लवित होने के लक्षण दिखा रहा है। जिसकी रक्षा का भार मनुष्य रूप में गणेश और शिव, कृष्ण और कौशिक, राम और रमा, तथा नारायण आदि अपने ऊपर लें, और फूलों के उद्गमन की आशा से जिस का सिंचन और भी कितने ही देवोपम सज्जन स्नेहपूर्वक करें उस के किसी समय फूलने फलने में क्या सन्देह? खेद इतना ही है कि जिस पुरुष-रत्न ने अपनी साधना के बल से हिन्दी-साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा इस नगर में की थी वह सौभाग्यशाली साहित्य-सेवी इस समय यहाँ उपस्थित नहीं। भगवान उस का कल्याण करें।

इस नगर के आधुनिक होने पर भी, यहां हिन्दी-साहित्य की उन्नति के साधनों की कमी नहीं। आशा है, आप की हितचिन्तना और आप के परामर्श से उन की संख्या और भी बढ़ जायगी और हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि के लिए नये नये उपायों की योजना हो जायगी। जो लोग यहां अपने बहीखाते का सारा काम मुड़िया-लिपि में करते हैं उनमें भी कितने ही उदारहृदय सज्जन हिन्दी से प्रेम रखते हैं और उस के साहित्य की समुन्नति के लिए बहुत कुछ दत्त-चित्त रहते हैं। हिन्दी के कवियों को, समय समय पर, जो पारितोषिक दिये जाते हैं और सस्ते मूल्य पर जो अच्छी अच्छी पुस्तकें निकाली जा रही हैं, वह भी इन्हीं के कृपाकटाक्ष का फल है। अतएव कई प्रकार की त्रुटियाँ होने पर भी, इस नये नगर में भी, ऐसी अनेक बातें हैं जो यह आशा दिलाती हैं कि आप के उत्साहदान और सदनुष्ठान से साहित्य-सेवा का बहुत कुछ काम यहाँ भी हो सकता है। यही सब बातें ध्यान में रखकर, उच्च आकांक्षाओं की प्रेरणा से, आप यहाँ पर आदरपूर्वक आमंत्रित किये गये हैं। भगवती, वाग्देवी उन आकांक्षाओं को फलवती करे।

३—मातृ भाषा की महत्ता।

जिस निमित्त यह अनुष्ठान किया गया है और आज तेरह वर्षों से बराबर होता आ रहा है उसकी महत्ता बताने की विशेष आवश्यकता नहीं। क्योंकि मेरी अपेक्षा आप को उस का ज्ञान अधिक है। इसलिए मैं दो ही चार विशेष विशेष बातों पर आप से कुछ निवेदन करूंगा।

सभ्य और शिक्षित संसार में, आज तक, आब्रह्मस्तम्भ-पर्य्यन्त ज्ञान का कितना और किस प्रकार संचय हुआ है और वह सञ्चय किन किन भाषाओं और किन किन ग्रन्थमालाओं में निबद्ध हुआ है, इस का विवेचन करने की शक्ति मुझ में नहीं। हिन्दी की माता कौन है? मातामही कौन है? प्रमातामही कौन है? किस समय उस का उद्भव हुआ? कैसे कैसे विकास होते हुए उसे उसका आधुनिक रूप मिला? इस सब के विवेचन का भी सामर्थ्य मुझ में नहीं। हिन्दी के कौन कवि, लेखक या उन्नायक कब हुए? उन्होंने उस की कितनी सेवा या उन्नति की? कब, कौन ग्रथ उन्होंने लिखे? उनसे हिन्दी-साहित्य को कितना लाभ पहुंचा? इसके

निरूपण की भी योग्यता मुझ में नहीं। और, इन सब बातों की चर्चा करने की आवश्यकता भी मैं नहीं समझता। क्योंकि इस विषय की बहुत कुछ चर्चा सम्मेलन के भूतपूर्व अधिवेशनों में हो चुकी है। अब भी यदि इस की आवश्यकता होगी तो इस अधिवेशन के अधिष्ठाता महाशय इस विषय में आप को अपना महत्वपूर्ण वक्तव्य सुनावेंहीं गे और यह भी बतावेंगे कि राष्ट्र से राष्ट्र-भाषा का क्या सम्बन्ध है।

मैं तो केवल इतना ही कहना चाहता हूं कि मनुष्य की मातृभाषा उतनी ही महत्ता रखती है जितनी कि उस की माता और मातृभूमि रखती है। एक माता जन्म देती है, दूसरी खेलने कूदने, विचरण करने और सांसारिक जीवन निर्वाह के लिये स्थान देती है; और तीसरी मनोविचारों और मनोगत भावों को दूसरों पर प्रकट करने की शक्ति देकर मनुष्य-जीवन को सुखमय बनाती है। क्या ऐसी मातृभाषा का हम पर कुछ भी ऋण नहीं? क्या ऐसी मातृभाषा की विपन्नावस्था देखकर जानकार जनों की आखों से आंसू नहीं टपकते? क्या ऐसी मातृभाषा से अधिकांश लोगों को पराँमुख होते और उसका परित्याग करते देख मातृभाषाभिमानियों का हृदय विदीर्ण नहीं होता? जो अपनी भाषा का आदर नहीं करता, जो अपनी भाषा से प्रेम नहीं करता, जो अपनी भाषा के साहित्य की पुष्टि नहीं करता, वह अपनी मातृभूमि की कदापि उन्नति नहीं कर सकता। उस के स्वराज्य का स्वप्न, उसके देशोद्धार का सङ्कल्प, उसकी देश-भक्ति की दुहाई बहुत कुछ निःसार है। उस की प्रतिज्ञायें और उसके प्रचारण और आस्फालन बहुत ही थोड़ा अर्थ रखते हैं। मातृभाषा की उन्नति करके एकता, जातीयता और राष्ट्रीयता के भावों को जब तक आप झोपड़ियों तक में रहनेवाले भारतवासियों के हृदयों में जागृत न कर देंगे तबतक आपके राजनैतिक मनोऽभिलाष पूरे तौर पर कदापि सफल होने के नहीं। क्या इस पृथ्वी की पीठ पर एक भी देश ऐसा है जहाँ शासनसम्बन्धी स्वराज्य तो है,पर मातृभाषासम्बन्धी स्वराज्य नहीं? विजित देशों पर विजेता क्यों अपनी भाषा का भार लादते हैं? आस्ट्रिया के जिन प्रान्तों पर इटली का अधिकार हो गया है वहां छल, बल और कौशल से क्यों इटालियन भाषा ठूँसी जा रही है? जर्मनी क्यों अपने दलित देशों या प्रान्तों में अपनी ही भाषा का प्रभुत्व स्थापित करने का प्रचण्ड प्रयत्न कर चुका है? क्यों अभी उसने उस दिन जर्मन अफ़सरों और कर्मचारियों को यह आज्ञा दी थी कि रूर-प्रान्त में फ्रांसवालों के कहने से, ख़बरदार, अपनी भाषा छोड़ कर फ्राँस की भाषा का कदापि व्यवहार न करना? मुंह से जो शब्द निकालना जर्मन-भाषा ही के निकालना। इस का एक मात्र कारण स्वराज्य और स्वभाषा का घना सम्बन्ध है। यदि भाषा गई तो अपनी जातीयता और अपनी सत्ता भी गई ही समझिये; बिना अपनी भाषा की नींव दृढ़ किये स्वराज्य की नींव नहीं दृढ़ हो सकती। जो लोग इस तत्व को समझते हैं वे मर मिटने तक अपनी भाषा नहीं छोड़ते। दक्षिणी अफ़रिका में, अपने अस्तित्व नाश का अवसर आ जाने पर भी, बोरों न अपनी भाषा को अपने से अलग न किया; हज़ार प्रयत्न करने पर भी उन्होंने वहाँ विदेशी भाषा के पैर नहीं जमने दिये। जिन में राष्ट्रीयता का भाव जागृत है, जो जातीयता के महत्व को समझते हैं, जो एकता के जादू को जानते हैं वे प्राण रहते कभी अपनी भाषा का त्याग नहीं करते; कभी उस के पोषण और परिवर्धन के काम से पीछे नहीं हटते, कभी दूसरों की भाषा को अपनी भाषा नहीं बनाते। ज़िन्दा देशों में यही होता है। मुर्दा और

पराधीन देशों की बात मैं नहीं कहता; उन अभागे देशों में तो ठीक इसका विपरीत ही दृश्य देखा जाता है।

४-मातृभाषा के स्वराज्य की आवश्यकता।

इस समय देश में स्वराज्यप्राप्ति के लिए सर्वत्र चेष्टा हो रही है। जिधर देखिए उधर ही स्वराज्य, स्वराज्य का घण्टा-नाद सुनाई दे रहा है। भारत के वर्तमान प्रभुओं ने भी थोड़ा थोड़ा करके स्वराज्य दे डालने की प्रतिज्ञा न सही, घोषणा तो ज़रूर ही कर डाली है। अब-कल्पना कीजिए कि यदि इसी साल भारत के शासनकर्ता यहाँ से चल दें और कह दें कि लो अपना स्वराज्य, हम जाते हैं; तो ऐसा अवसर उपस्थित होने पर, बताइए, नवीन शासन में कितनी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जायंगी। क्योंकि, भाषा के स्वराज्य की प्राप्ति का कुछ भी उपाय अब तक नहीं किया गया। और बिना इस स्वराज्य के शासन-व्यवस्था का विधान कभी सुचारु रूप से नहीं चल सकता। बिना भाषा के स्वराज्य के क्या पद पद पर विशृङ्खलता न उपस्थित होगी? क्या उस समय भी अँगरेज़ी ही भाषा की तूती बोलेगी? कितने परिताप की बात है कि इस इतनी महत्वपूर्ण बात की ओर आज तक बहुत ही कम लोगों का ध्यान गया है। क्या इस धरातल पर कोई भी देश ऐसा है जहाँ शासन-सम्बन्धी स्वराज्य तो है, पर भाषा-सम्बन्धी स्वराज्य नहीं? स्वराज्य पाकर भी क्या कोई देश विदेश की भाषा के द्वारा शासनकार्य का सम्पादन कर सकता है? भाइयो, स्वराज्यप्राप्ति की चेष्टा के साथ ही साथ हमें मातृभाषा के स्वराज्य की प्राप्ति के लिए भी सचेत होना चाहिए। स्वराज्य पाने के लिए तो हमें किसी हद तक परमुखापेक्षण और परावलम्बन की भी आवश्यकता है, पर भाषा के स्वराज्य के लिए नहीं। उसकी स्थापना तो सर्वथा हमारे ही हाथ में है। मानसिक स्वराज्य मातृभाषा ही के आधार पर प्राप्त हो सकता है और बिना इस आधार के, शासनविषयक स्वराज्य मिल जाने पर भी, वह सफलतापूर्वक नहीं सञ्चालित हो सकता। जातीय जीवन को एक सूत्र में बाँधने के लिए भी सब से श्रेष्ठ उपाय मातृभाषा का स्वराज्य ही है। उससे स्वधर्म्म की भी रक्षा हो सकती है, ऐक्य की भी वृद्धि हो सकती है और परम्परागत ज्ञान की उपलब्धि भी, थोड़े ही श्रम से, हो सकती है। यदि हमें अपने धर्म-कर्म, सदाचार, इतिहास, वेद, शास्त्र, पुराण, विज्ञान, समाजनीति, राजनीति आदि सभी विषयों का ज्ञान अपनी ही भाषा के द्वारा होने लगे, अन्य भाषाओं का मुंह न ताकना पड़े, तो समझना चाहिए कि हमें स्वभाषा का स्वराज्य प्राप्त हो गया। भगवान् करे, आप इस अधिवेशन में ऐसा शङ्ख फूँकें जिसकी तुमुल ध्वनि सुन कर आलस्य-ग्रस्त जन जाग पड़ें और स्वभाषा के स्वराज्य की प्राप्ति के साधन प्रस्तुत करने में तन, मन से लग जांय!

५—एक व्यापक भाषा की आवश्यकता।

जिस तरह अपनी भाषा के स्वराज्य की आवश्यकता है उसी तरह अपने देश में एक प्रधान भाषाके सार्वत्रिक प्रचार की भी आवश्यकता है। भारत देश नहीं, महादेश है। उसके भिन्न भिन्न प्रान्तों की भाषायें भी भिन्न भिन्न हैं। उसके प्रान्त, प्रान्त नहीं। उनमें से कितने ही योरोप के छोटे छोटे देशों से भी बहुत बड़े हैं।

भारत का कुछ प्रान्तीय भाषाओं में थोड़ा बहुत पारस्परिक मेल अवश्य है, पर कुछ में बिलकुल नहीं। ये भाषायें चिरकाल से अपनी अपनी भिन्नता स्थापित किये हुए ही चली आ रही हैं। इन सभी ने अपने अपने साहित्य की जुदा जुदा सृष्टि की है। इन भाषाओं के अन्तस्तल तक में इनके प्रान्तवासियों की जातीयता प्रविष्ट हो गई है। अतएव इनका परित्याग न तो सम्भव है और न श्रेयस्कर ही है। वे सब बनी रहें; इनकी समुन्नति होती जाय; इनके साहित्य की श्रीसम्पन्नता बढ़ती जाय—देश का कल्याण इसी में है। परन्तु साथ ही एक ऐसी भी आवश्यकता है, और बहुत बड़ी आवश्यकता है, जिसकी सहायता से सभी प्रान्तों के वासी अपने विचार अन्य प्रान्तवासियों पर प्रकट कर सकें। सारे देश की विचार-परम्परा को एकही धारा में बहाने—परस्पर एक दूसरे के सुख दुःखों और इच्छा-आकांक्षाओं को व्यक्त करने—के लिए इसके सिवा और कोई साधन ही नहीं। सारे देश को एक सूत्र में बाँधने, ऐक्य की स्थापना करने और जातीयता का भाव जागृत रखने की सब से बढ़ कर शक्ति भाषा ही की एकता में है। इसी से दूरदर्शी और महामान्य महात्मा गांधी हिन्दी को व्यापक भाषा बनाने पर इतना ज़ोर देते हैं। क्योंकि इस देश में यदि कोई भाषा सार्वदेशिक हो सकती है तो वह हिन्दी ही है। इस बात को अब प्रायः सभी विज्ञ जनों ने मान लिया है। अतएव इस विषय में वाद-विवाद या बहस के लिए अब जगह नहीं। इसने तो अब गृहीत सिद्धान्त का स्वरूप धारण कर लिया है। जिन प्रान्तों की मातृभाषा हिन्दी नहीं उनमें अब हिन्दी के स्कूल और क्लासें खुल रही हैं; सैकड़ों, हज़ारों शिक्षित पुरुष और कहीं कहीं स्त्रियाँ भी हिन्दी सीख रही हैं। इसका बहुत कुछ श्रेय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को भी है।

एक और दृष्टि से भी भारत में एक व्यापक भाषा की आवश्यकता है और उस दृष्टि से, बिना एक ऐसी भाषा के, देश का काम ही किसी तरह नहीं चल सकता। वह दृष्टि राजनैतिक-अथवा हिन्दी के किसी किसी वैय्याकरण की सम्मति में राजनीतिक—है। स्वराज्य-प्राप्ति के विषय में, ऊपर एक जगह, एक कल्पना की जा चुकी है। अब आप, एक क्षण के लिए, एक और भी वैसी ही कल्पना कर लीजिए। मान लीजिए कि आपको स्वराज्य मिल गया, या दे दिया गया, या आप ही ने ले लिया; और इस देश में प्रजासत्तात्मक या प्रतिनिधि-सत्तात्मक राज्य की व्यवस्था हो गई। ऐसा होने पर—भारतीय संयुक्तराज्यों की स्थापना हो चुकने पर—आपने प्रान्त प्रान्त में प्रतिनिधि-सत्तात्मक कौंसिलों की योजना कर दी और शासन का प्रबन्ध भी आपने अलग अलग कर दिया। फिर सारे देश के शासन की एक सूत्रता के सम्पादनार्थ आपने एक बड़े कौंसिल या कार्यनिर्वाहक सभा और मन्त्रिमंडल की सृष्टि करके, उसमें हर प्रान्त के थोड़े थोड़े प्रतिनिधियों का समावेश किया। इस दशा में प्रान्तीय कौंसिलों और मन्त्रिमण्डलों का कार्य-निर्वाह तो प्रान्तिक भाषाओं के द्वारा हो सकेगा। पर, आप ही बताइए, बड़े कौंसिल और मन्त्रिमण्डल का काम किस भाषा में होगा? अँगरेज़ी भाषा का तो नाम ही न लीजिए; उस दशा में उस भाषा का प्रयोग तो सर्वथा ही असम्भव होगा। क्योंकि प्रान्तिक प्रजा के ऐसे अनेक प्रतिनिधि वहाँ पहुँच सकेंगे जो अपनी भाषा छोड़ कर अन्य भाषा न समझ सकते होंगे और न बोल सकते होंगे।

अब मान लीजिए कि आकस्मात कोई बड़े ही महत्व का और बड़ा ही आवश्यक काम आ गया और महामन्त्रियों को सारे देश के के प्रतिनिधियों की सम्मति की अपेक्षा हुई।

इस निमित्त बड़ी सभा या कौंसिल का एक विशेष अधिवेशन किया गया। उसमें महामात्य या सभापति कूटाक्षभट्ट, मन्त्रिप्रवर मङ्गलमूर्ति, ऐडमिरल वैनर्जी, फील्ड मार्शल फतेहजङ्ग, कमांडर-इन-चीफ बूटासिंह, ऐडजुटंट जनरल विक्रमादित्य, शिक्षा-सचिव नासिरी, परराष्ट्र-सचिव आयंगर, वाणिज्य-मन्त्री रानडे और क़ानूनी मन्त्री देसाई आदि के साथ भिन्न भिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधि मन्त्रणा करने बैठे। ऐसा दृश्य उपस्थित होने पर, एक व्यापक भाषा के अभाव में, गोखले की बात आइयर न समझेंगे और आइयर गोखले की ! देशपाण्डे का मुंह ताकते बरुवा रह जायंगे और बरुवा का देशपाण्डे ! चैटर्जी का वक्तव्य सुनकर भी देसाई बहरे बने बैठे रहेंगे और देसाई का वक्तव्य सुनकर चैटर्जी ! ऐसी दशा में प्रत्येक भाषा के ज्ञाता जुदा जुदा दुभाषिये नियत करने से भी क्या आपका काम चल सकेगा ? ऐसे कितने दुभाषिये आप रक्खेंगे ? हर वक्तृता या हर बात का अनुवाद किसी एक भाषा में यदि आप कराने बैठेंगे तो घंटों का काम हफ्तों में भी ख़तम न होगा। तब तक यदि मन्त्रणा किसी छिड़नेवाले युद्ध के विषय में हुई तो शायद शत्रु की गोला-बारी और बम-वर्षा भी देश की किसी सीमा पर होने लगे। अतएव इस प्रकार का अस्वाभाविक आडम्बर एक दिन भी न चल सकेगा। परन्तु यदि आप किसी एक ऐसी भाषा को सीख लेंगे जिसे सब जानते हों और ऐसे मौकों पर उसी में अपने विचार व्यक्त करेंगे तो आपका सब: काम चुटकी बजाते हो जायगा और विशृङ्खलता पास न फटकेगी।

अतएव सारे देश में एक प्रधान भाषा का प्रचार अब भी अत्यन्त आवश्यक है और आगे भी अत्यन्त आवश्यक होगा, और यह भाषा हिन्दी के सिवा और कोई नहीं हो सकती। यह बात अब सर्वसम्मत और सर्वमान्य सी हो चुकी है।

६—साहित्य की महत्ता।

ज्ञानराशि के सञ्चित कोश ही का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखनेवाली और निर्दोष होने पर भी, यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह, रूपवती भिखारिनी की तरह, कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्रीसम्पन्नता, उसकी मान मर्य्यादा उसके साहित्य ही पर अवलम्बित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्म्मिक विचारों और सामाजिक सङ्गठन का, उसके ऐतिहासिक घटना चक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रन्थ-साहित्य ही में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एक मात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप यह निःसन्देह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्णसभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी ठीक वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्य-रूपी आईने ही में मिल सकती है। इस आईने के सामने जातेही हमें यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनी शक्ति इस समय कितनी या कैसी है और भूतकाल में कितनी और कैसी

थी। आप भोजन करना बन्द कर दीजिए या कम कर दीजिए, आपका शरीर क्षीण हो जायगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वञ्चित कर दीजिए, वह निष्क्रिय होकर धीरे धीरे किसी काम का न रह जायगा। बात यह है कि शरीर के जिस अङ्ग का जो काम है वह उससे यदि न लिया जाय तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालान्तर में निर्जीव सा नहीं कर डालना चाहते तो हमें साहित्य का सतत सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिए उसका उत्पादन भी करते जाना चाहिए। पर, याद रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्तिसम्पन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलम्बित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है तो हमें श्रमपूर्वक, बड़े उत्साह से, सत्साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए। और, यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हों तो आज ही इस साहित्य-सम्मेलन के आडम्बर का विसर्जन कर डालना चाहिए।

आँख उठाकर ज़रा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ही ने वहाँ समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है; शासन-प्रबन्ध में बड़े बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहां तक कि अनुदार धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पाटन साहित्य ही ने किया है; जातीय स्वातन्त्र्य के बीज उसी ने बोये हैं; व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है; पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊंचा उठाया? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी ज़िन्दा करने वाली संजीवनी औषधि का आकर है, जो साहित्य पतितों को उठानेवाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करने वाला है उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानान्धकार के गर्त में पड़ी रह कर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही और आत्महन्ता भी है।

कभी कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य के बल पर दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, जैसा कि जर्मनी, रूस और इटली आदि देशों की भाषाओं पर फ्रेञ्च भाषा ने बहुत समय तक कर लिया था। स्वयं अंगरेज़ी भाषा भी फ्रेञ्च और लैटिन भाषाओं

के दबाव से नहीं बच सकी । कभी कभी यह दशा राजनैतिक प्रभुत्व के कारण भी उपस्थित हो जाती है और विजित देशों की भाषाओं को जेता जाति की भाषा दबा लेती है । तब उनके साहित्य का उत्पादन यदि बन्द नहीं हो जाता तो उसकी वृद्धि की गति मन्द ज़रूर पड़ जाती है । पर यह अस्वभाविक दबाव सदा नहीं बना रहता । इस प्रकार की दबी या अधःपतित भाषायें बोलने वाले जब होश में आते हैं तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादन को दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इङ्गलैंड चिरकाल तक फ्रेञ्च और लेटिन भाषाओं के मायाजाल में फँसे थे । पर, बहुत समय हुआ, उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला । अब वे अपनी ही भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं ; कभी भूल कर भी विदेशी भाषाओं में ग्रन्थ-रचना करने का विचार तक नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही स्वजाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है । विदेशी भाषा का चूडान्त ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्वपूर्ण ग्रन्थ-रचना करने पर भी विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुंच सकता । अपनी मां को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़ कर जो मनुष्य दूसरे की मां की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनुयाज्ञवल्क्य या आपस्तम्ब ही कर सकता है ।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषायें सीखनी ही न चाहिए । नहीं ; आवश्यकता, अनुकूलता, अवकाश होने पर हमें एक नहीं, अनेक भाषायें सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिए ; द्वेष किसी भी भाषा से न करना चाहिए ; ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए । परन्तु अपनी ही भाषा और उसीके साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए ; क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है । ज्ञान, विज्ञान, धर्म्म और राजनीति की भाषा सदैव लोकभाषा ही होनी चाहिए । अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से, हमारा परम धर्म्म है ।

७—इतिहास की महत्ता ।

साहित्य की एक शाखा का नाम है इतिहास । यह शाखा बड़े ही महत्व की है । इसका महत्व स्वतन्त्रता और स्वराज्य के महत्व से कम नहीं । स्वतन्त्रता चाहे चली जाय, पर इतिहास न जाना चाहिए । उसकी रक्षा जी जान से करनी चाहिए । क्योंकि इतिहास के रक्षित रहने से खोई हुई स्वतन्त्रता फिर भी प्राप्त की जा सकती है; पर उसके नष्ट हो जाने पर, यदि स्वतन्त्रता प्राप्त भी हो सकती है तो बड़ी बड़ी कठिनाइयां झेलने पर ही प्राप्त हो सकती है । जो जातियां इतिहास में अपने पूर्व-पुरुषों के गौरव को रक्षित नहीं रखतीं, जो उनके कारनामों को भूल जाती हैं, जो अपने भूतपूर्व बल और विक्रम को विस्मृत कर देती हैं, वे नष्ट हो जाती हैं और नहीं भी नष्ट होतीं तो परावलम्ब के पङ्क में पड़ी हुई नाना यातनायें सहा करती हैं । अतएव, भाइयो, आप कृपा करके किसी ऐसे मन्त्र के अनुष्ठान की योजना कर दीजिए जिसके प्रभाव से हम अपने व्यास और वाल्मीकि, कालिदास और भारवि, यास्क और पाणिनि, कणाद और गौतम, सायन और महीधर को न भूलें ; शकारि विक्रमादित्य, दिग्विजयी समुद्रगुप्त और महामनस्वी प्रताप का विस्मरण न होने दें ; राम

भला इनसे कोई यह आशा कैसे कर सकता है कि ये शिशुनाग और आन्ध्रभृत्य, चोल और पाण्ड्य, पाल और परमार, हैहय और चालुक्य-वंशों के इतिहास की कुछ भी विशेष बातें बता सकेंगे ।

अतएव, भाइयो, इस बड़ी ही, लज्जाजनक और हानिकारिणी त्रुटि को दूर करने के उपाय की कोई योजना कर दीजिए । पुरातत्व की खोज करने, आज तक जितनी खोज हुई है उसका ज्ञान-सम्पादन करने और प्रस्तुत सामग्री के आधार पर हिन्दी में इस विषय की पुस्तकों का प्रणयन करने की ओर सामर्थ्यवान सज्जनों का ध्यान आकृष्ट कर दीजिए । जो संस्कृत और अँगरेजी का ज्ञान रखते हैं वे यदि चाहें तो इस काम को अच्छी तरह कर सकते हैं । आज तक हज़ारों शिलालेख और दान-पत्र प्राप्त होचुके हैं; अनन्त प्राचीन सिक्कों का संग्रह हो चुका है ; तुर्किस्तान के उजाड़ मरुस्थल तक में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के सैकड़ों गढ़े हुए ग्रन्थों के ढेर के ढेर हाथ लग चुके हैं; मूर्तियों, मन्दिरों और स्तूपों के समूह के समूह पृथ्वी के पेट से बाहर निकाले जा चुके हैं । उन सबके आधार पर भारत के पुरातन इतिहास के सूत्रपात की बड़ी ही आवश्यकता है ।

भारतीय पुरातत्व की जो यह इतनी सामग्री उपलब्ध हुई है उसके आविष्कार का अधिकांश श्रेय उन्हीं लोगों को है जिनके प्रायः दोषहीदोष हम लोग बहुधा देखा करते हैं। यदि सर विलियम जोंस चार्ल्स विलकिन्स, जेम्स प्रिन्सेप, जनरल कनिंहम, डाक्टर बुकनन, वाल्टर इलियट, कोलब्रुक, टाड, टामस, वाथ, टेलर, बर्जेस और फ़र्गुसन आदि विद्वानों ने इस विषय की ओर ध्यान न दिया होता तो भारत की प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री बहुत करके पूर्ववत ही अन्धकार में पड़ी रह जाती और जितनी प्राप्त हुई है उसका भी अधिकांश नष्ट हो जाता । अतएव इन पाश्चात्य पण्डितों ने हम पर जो यह इतना उपकार किया है तदर्थ हमें इनका हृदय से कृतज्ञ होना चाहिए । यद्यपि प्रत्नतत्व के उद्धार के निमित्त भारत के वर्तमान शासकों ने एक महकमा ही अलग खोल रक्खा है और यद्यपि अब अनेक भारत-वासी भी इस ओर दत्तचित्त हैं, पर इसकी नींव डालनेवाले पूर्वनिर्दिष्ट विलायती विद्वान् ही हैं । अब भी इँगलैण्ड तथा योरप के अन्य देशों के विद्वान् ही इस विषय की खोज में अधिक मनोनिवेश कर रहे हैं, तथापि अनेक कारणों से उनके निर्णीत सिद्धान्तों में बहुधा त्रुटियां रह जाती हैं । विलायत के केम्ब्रिज. विश्वविद्यालय ने भारतीय इतिहास को ६ भागों में प्रकाशित करना आरम्भ किया है । उसके जिस पहले भाग में भारत का प्राचीन इति-हास है उसका मूल्य तो ३५) है, पर त्रुटियों की उसमें बड़ी ही भरमार है । कुछ त्रुटियाँ तो असह्य हैं । उस दिन अंगरेजी के मासिक पत्र, " माडर्न रिव्यू " में उसकी एक खण्ड-नात्मक आलोचना पढ़ कर हृदय पर कड़ी चोट लगी । विदेशियों के लिखे हुए इतिहास में भूलों और भ्रमों का होना आश्चर्यजनक और अस्वाभाविक नहीं । उनको दूर करने का एकमात्र उपाय यह है कि हम लोग स्वयं ही इस विषय का अध्ययन करके अपने इतिहास का आपही निर्माण करें और जहाँ तक हो सके उसे अपनी ही भाषा के सांचे में ढालें । बिना ऐसा किये न तो अपने साहित्य की अभिवृद्धि ही होगी और न अपना सच्चा इतिहास ही अस्तित्व में आवेगा ।

६—साहित्य की समृद्धि के उपाय ।

देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा का प्रचार बढ़ रहा है । उसके गौरव का ज्ञान लोगों को धीरे धीरे होता जा रहा है । कांग्रेस आदि बड़ी बड़ी राजनैतिक संस्थाओं में भी अब हिन्दी का प्रवेश हो गया है। विख्यात वक्ताओं तक

और कृष्ण, भीष्म और द्रोण, भीम और अर्जुन को सदा आदर की दृष्टि से देखें। प्राचीन साहित्य की इस इतिहास-शाखा का महत्व बता कर आप हमारे पूर्वार्जित गौरव को अज्ञान-सागर में डूबने से बचा लीजिये। क्योंकि जिस जाति का इतिहास नष्ट नहीं हुआ और जिसमें अपने पुण्य-पुरुषों का आदर बना हुआ है वही अपनी मातृभूमि के अधःपात से विदीर्ण हृदय होकर, अनुकूल अवसर आने पर, फिर भी अपना नत मस्तक उन्नत कर सकती है।

———

८—पुरातत्वविषयक साहित्य की आवश्यकता।

दुनिया में ऐसी कितनी ही जातियां विद्यमान हैं जिनका भूतकाल बहुत ही उज्ज्वल था, पर जो सभ्यता की दौड़ में पीछे रह जाने से, अन्धकार के आवरण से आच्छादित हो गई हैं। ऐसी जातियों को यदि इस बात का ज्ञान करा दिया जाय कि वे कौन हैं और उनके पूर्व पुरुष कैसे थे तो उनके हृदय में फिर उठने की प्रेरणा का प्रादुर्भाव हो सकता है। परन्तु जो यही नहीं जानता कि उसका भी कोई समय था—वह भी कभी अपनी सत्ता रखता था—वह अपने पूर्वजों की कीर्ति का पुनरुद्धार करने की चेष्टा क्यों करेगा। जिसकी दृष्टि में जो चीज़ कभी थी ही नहीं उसे पाने की तो इच्छा भी, बिना किसी प्रबल के कारण के, उसके हृदय में उत्पन्न ही न होगी। यों तो अपने पूर्वजों के कीर्ति-कलाप की रक्षा करना सभी का धर्म है; पर गिरी हुई जातियों के लिए तो वह सर्वथा अनिवार्य्य ही है। उन्हें तो उस कीर्ति-कलाप का सतत ही स्मरण करना चाहिए। पुरातन-वस्तुओं की प्राप्ति और रक्षा से ही इस प्रकार का स्मरण हो सकता है। इस रक्षा का साधन साहित्य की इतिहास-नामक शाखा का ही एक अङ्ग है। उसका नाम है पुरातत्व अथवा पुरातन वस्तुओं का ज्ञान, विवरण और विवेचन। कितने दुख, कितने परिताप; कितनी लज्जा की बात है कि इतिहास के इस महत्वपूर्ण अङ्ग का हिन्दी में प्रायः सर्वथा ही अभाव है। इस अभाव ने हमारी बहुत बड़ी हानि की है। उसने तो हमें अन्धा सा बना दिया है। हम अपने आपको भूल सा गये हैं; हमें अपने पूर्वजों के बल और विक्रम, विज्ञता और विद्वत्ता, कला-कुशलता और पौरुष आदि लोकोत्तर गुणों का विस्मरण सा हो गया है। घटना-चक्र में पड़ कर हम कुछ के कुछ हो गये हैं। हम हनीबाल और सीपियो के गुणगान करते हैं, हम सीज़र और सलादीन की प्रभुता के पद्य सुनाते हैं, हम जरक्सीज़ और अलेग्ज़ांडर की चरितावली का कीर्तन करते हैं! यहाँ तक कि हम गाल और केल्ट, नार्मन और सेक्सन लोगों की बंशावलियां तक कण्ठाग्र सुना सकते हैं! पर, हाय! हम अपने चन्द्रगुप्त और अशोक के, हम अपने समुद्रगुप्त और स्कन्दगुप्त के, हम अपने शातकर्णी और पुलकेशी के, हम अपने हर्ष और अमोघवर्ष के इतिहास की मोटी मोटी बातें तक नहीं जानते। जिसके चलाये हुए संवत् का प्रयोग हम, प्रतिदिन, करते हैं और जिसका उल्लेख हमें, धार्मिक कृत्य करते समय, संकल्प तक में करना पड़ता है वह हमारा शकारि विक्रमादित्य कब हुआ और उसने इस देश के लिए क्या क्या किया, यह तक हम ठीक ठीक नहीं जानते! इस आत्म-विस्मृति का भी कुछ ठिकाना है! विदेशी वंशावलियाँ रटने वाले हमारे हज़ारों नहीं, लाखों युवकों को यह भी मालूम नहीं कि इस कानपुर के आसपास का प्रान्त, हजार पांच सौ वर्ष पहले, किन किन नरेशों के शासन में रह चुका है। मौखरी वंश के महीपों की भी सत्ता कभी यहाँ थी, यह बात तो उनमें से शायद दो ही चार ने सुनी हो तो सुनी हो। फिर

को अब कभी कभी इच्छा-पूर्वक, कभी कभी निरुपाय होकर, कभी कभी हवा का रुख़ बदला हुआ देख कर अनिच्छा से भी उसका आश्रय लेना पड़ता है। नये नये लेखकों और प्रकाशकों की कृपा से उसके साहित्य की भी वृद्धि हो रही है। यह सब होने पर भी, और और भाषाओं के साहित्य के साथ अपने साहित्य की तुलना करने पर, यह समस्त आयोजन वारिधि की पूर्ति के लिए एक वारि-विन्दु ही के बराबर है। तथापि यह इतनी भी वृद्धि कुछ तो सन्तोषजनक अवश्य ही है—

श्लघ्यं मिनापमपि किन्नुमरौ सरचत् ?

क्योंकि राजपूताने के उत्तम बालुकामय मरुस्थल में एक अत्यल्प भी जलाशय शुष्क कण्ठ सींचने का काम कुछ तो देता ही है।

परन्तु यदि हमें और भाषाओं की समकक्षता करना है—यदि हमें और देशों के न सही, अपने ही देश के अन्य प्रान्तों के सामने अपने मस्तक को ऊंचा उठाना है—तो हमें अपनी भाषा के साहित्य की वृद्धि झपाटे से करना चाहिए। क्योंकि अभी वह अत्यन्त ही अनुन्नत दशा में है। अतएव जब तक अनेक मातृभाषा प्रेमी समर्थ जन इस ओर न झुकेंगे तब तक हिन्दी-साहित्य की उन्नति नाम लेने योग्य कदापि न होगी। क्योंकि जब से जन-समुदाय में ज्ञानाङ्कुर का उदय हुआ तबसे आज तक नाना भाषाओं के साहित्य में अनन्त ज्ञानराशि सञ्चित हो चुकी है। इस दशा में उसी भाषा का साहित्य समृद्धि कहा जा सकता है जिसमें इस ज्ञान-राशि का सबसे अधिक सञ्चय हो। यह बात दस, बीस, पचास वर्षों में भी नहीं हो सकती। अतएव जब तक अनेकानेक लेखक चिरकाल तक इस काम में न लगे रहेंगे, तब तक अपनी भाषा का साहित्य समृद्ध न होगा। यों तो समृद्धि का यह काम सीमा-रहित है, वह कभी बन्द हो नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान की उन्नति दिन पर दिन होती ही जाती है; नई नई बातें ज्ञात होती ही जाती हैं; नये नये शास्त्रों, विज्ञानों, कलाओं और आविष्कारों का उद्भव होता ही जाता है। अतएव उन सबको अपनी भाषा के साहित्य-कोष में सञ्चित कर देने की आवश्यकता सदा ही बनी रहेगी। जब तक हिन्दी भाषा का अस्तित्व रहेगा तब तक इस ज्ञान-सञ्चय के कार्य्य को जारी रखने की आवश्यकता भी रहेगी। ऐसा समय कभी आने ही का नहीं जब कोई यह कहने का साहस कर सके कि बस, अब समस्त ज्ञान-कोष निःशेष हो गया। इस कारण साहित्य-वृद्धि का काम सतत जारी रखना पड़ेगा। इससे आप समझ जांयगे यह काम कितना गौरव-पूर्ण, कितना महत्वमय और कितना बड़ा है।

साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि को तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जांय, और आत्मगौरव की उद्भावना होकर वह पराकाष्ठा को पहुंच जाय। मनोरञ्जन मात्र के लिए प्रस्तुत किये गये साहित्य से भी चरित्र-गठन को हानि न पहुंचनी चाहिए। आलस्य, अनुद्योग, विलासिता का उद्बोधन जिस साहित्य से नहीं होता उसी से मनुष्य में पौरुष अथवा मनुष्यत्व आता है। रसवती, ओजस्विनी, परिमार्जित और तुली हुई भाषा में लिखे गये ग्रन्थ ही अच्छे साहित्य के भूषण समझे जाते हैं।

साहित्य की समृद्धि के लिए किन किन विषयों के और कैसे कैसे ग्रन्थों की आवश्यकता है, यह निवेदन करने की शक्ति मुझ में नहीं। जिस भाषा के साहित्य में, जिधर देखिये उधर ही, अभाव ही अभाव देख पड़ता है, उसकी उन्नति के निमित्त यह कहने के लिए जगह ही

कहां कि यह लिखिए, वह लिखिए या यह पहले लिखिए वह पीछे । जो जिस विषय का ज्ञाता है अथवा जो विषय जिसे अधिक मनोरञ्जक जान पड़ता है उसे उसी विषय की ग्रन्थ-रचना करनी चाहिए । साहित्य की जितनी शाखायें हैं—ज्ञानार्जन के जितने साधन हैं—सभी को अपनी भाषा में सुलभ करदेने की चेष्टा करनी चाहिए । साहित्य की दो एक बहुत ही महत्व-मयी शाखाओं को अस्तित्व में लाने के लिए ग्रन्थ-प्रणयन के विषय में, ऊपर, मैं एक जगह प्रार्थना कर ही आया हूं । आप यह निश्चय समझिए, अपनी ही भाषा के साहित्य से जनता की यथेष्ट ज्ञानोन्नति हो सकती है । विदेशी भाषाओं के साहित्य से यह बात कदापि सम्भव नहीं । विदेशी साहित्य यदि हमारे साहित्य को दबा लेगा तो लाभ के बदले हानि ही होगी और इतनी हानि होगी जिसकी इयत्ताही नहीं। हमारा इतिहास, हमारा विकास, हमारी सभ्यता बिलकुल ही भिन्न प्रकार की है । विदेशी साहित्य के उन्मुक्त द्वार से आई हुई सभ्यता हमारी सभ्यता को निरन्तर ही बाधा पहुंचाती रहेगी । फल यह होगा कि हम अपने गौरव और अपने आत्म-भाव को भूल जायँगे । इससे हमारी जातीयताही नष्ट हो जायगी । और जो देश अपना इतिहास और जातीयता खो देता है उसके पास फिर रही क्या जाता है ? वह तो ज़िन्दा ही मुर्दा हो जाता है और क्रम क्रम से नामशेष होने के पास पहुंच जाता है । अतएव हमारा परम धर्म है कि हम अपने ही साहित्य की सृष्टि और उन्नति करें । एतदर्थ हमें चाहिए कि हम, हिन्दी के साहित्य-कोष में, अपने पूर्व पुरुषों के द्वारा अर्जित ज्ञान का भी सञ्चय करें और विदेशी भाषाओं के साहित्य में भी जो ज्ञान हमारे मतलब का हो उसे भी लाकर उसमें भर दें । विदेशी ज्ञान अरबी, फ़ारसी, अँगरेज़ी, फ्रेंच, जर्मन, चीनी, जापानी आदि किसी भी भाषा में क्यों न पाया जाता हो, हमें निःसङ्कोच उसे ग्रहण कर लेना चाहिए । हमारी सभ्यता पर सिक्खों, पारसियों, मुसलमानों, अंगरेजों चीनिओं और जापानियों तक की सभ्यता का प्रभाव पड़ा है । जैनों और बौद्धों की सभ्यता का तो कुछ कहना ही नहीं । अतएव इन जातियों और धर्मानुयायियों के साहित्यों से भी उपादेय अंश ग्रहण कर के हमें अपने साहित्य की पूर्ति करनी चाहिए ।

वैदिक और पौराणिक काल में निर्मित ग्रन्थों का जो अंश हमारे यहां बच रहा है वही इतना अधिक है कि अनेक लेखक सतत श्रम करने पर भी उसे, थोड़े समय में, हिन्दी का रूप नहीं दे सकते । अकेले जैनियों ही के ग्रन्थभाण्डारों में सैकड़ों नहीं, हज़ारों ग्रन्थ अब भी ऐसे विद्यमान हैं जिनका नाम तक हम लोग नहीं जानते । यह सारा साहित्य हमारे ही पूर्वजों की—हमारेही देशवासियों की—कृपा से, अस्तित्व में आया है । अतएव वह भी हमारी सभ्यता का निदर्शक है । उसे छोड़ देने से हमारी सभ्यता और हमारी जातीयता के बोधक साधन पूर्णता को नहीं पहुंच सकते ।

पुराणों को कुछ लोगों ने बदनाम कर रक्खा है । वे उन्हें गपोड़े समझते हैं । यही सही । पर क्या गपोड़े होने ही से वे त्याज्य हो गये ? क्या गपोड़े साहित्य का अंश नहीं ? क्या पुराण अपने समय की भारतीय सभ्यता के सूचक नहीं ? क्या बड़े होने पर हम अपनी दादी या नानी की कही हुई कहानियां याद करके आनन्द-मग्न, और कोई कोई प्रेमविह्वल तक, नहीं होजाते ? क्या पुराण हमारे ही पूर्वजों की यादगार नहीं ? वे कैसे ही क्यों न हों, हमारे तो वे आदर ही के पात्र हैं । जिन्होंने पुराण पढ़े हैं वे जानते हैं कि वे समूल ही निःसार नहीं । उनमें, और हमारे महाभारत तथा रामायण में, हमारी सभ्यता

के आदर्श चित्र भरे पड़े हैं। उनमें दर्शन-शास्त्रों के तत्व हैं; उनमें ज्ञानविज्ञान की बातें हैं; उनमें ऐतिहासिक विवरण हैं; उनमें काव्य-रसों की प्रायः सभी सामग्री है। अतएव वे हेय नहीं। ज़रा श्रीमद्भागवत के सातवें स्कन्ध के दूसरे अध्यायही को देख लीजिए। नीच योनि में उत्पन्न माने गये दैत्य हिरण्यकशिपु ने उसमें कितनी तत्वदर्शिता प्रकट की है—अपने गम्भीर ज्ञान की कैसी अद्भुत बानगी दिखाई है। वह ज्ञानप्रदर्शन पुराणकारही का माल क्यों न मान लिया; वह वहां विद्यमान तो है। इसी तरह विष्णुपुराण में आपको मगध-नरेशों के कुछ ऐसे ऐतिहासिक वर्णन मिलेंगे जिनको असत्य ठहराने का साहस, आज कल, इस बीसवीं सदी के भी धुरन्धर इतिहासवेत्ता नहीं कर सकते।

मौलिक साहित्य-रचना की तो बड़ीही आवश्यकता है। पर उसके साथ ही साथ, हमारी सभ्यता के सूचक प्राचीन साहित्य के हिन्दी-अनुवाद की तथा विदेशी भाषाओं के भी ग्रन्थरत्नों के अनुवाद की आवश्यकता है— फिर, वे ग्रन्थ चाहे अंगरेज़ी भाषा के हों, चाहे अरबी, फ़ारसी के हों, चाहे और ही किसी भाषा के हों। विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र वसु की विज्ञान-विचक्षणता और अद्भुत आविष्क्रियाओं ने भू-मण्डल के विज्ञानवेत्ताओं को चकित कर दिया है। उन्होंने विज्ञान-बल से यन्त्र-द्वारा यह बात प्रमाणित करदी है कि हमारे उपनिषदों और वेदान्तादि शास्त्रों के सिद्धान्त निर्मूल नहीं। उनके अनुसार, जो ब्रह्म या परमात्मांश प्राणिमात्र में विद्यमान है वही उद्भिजों और जड़ पदार्थों तक में विद्यमान है। इस जड़-चेतनमयी सृष्टि में परमात्मा सर्वत्र ही व्याप्त है और सभी का पालन-पोषण, नियमन तथा नाश एक ही प्रकार के नियमों से होता है। सरस्वती नदी के तट पर, हज़ारों वर्ष पूर्व हमारे ऋषियों, मुनियों और पूर्वजों ने जिस "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" के तत्व का उद्घाटन किया था, आचार्य बसु ने उसी की सत्यता अपने आविष्कारों द्वारा प्रमाणित कर दी है। कितने परिताप की बात है कि उनके इस तत्व के निर्णायक ग्रन्थों में से, अब तक, किसी एक का भी अनुवाद हिन्दी में नहीं हुआ। हैकेल नामके नामी तत्ववेत्ता ने विकाशवाद-सृष्टिरचना आदि विषयों पर बड़े ही महत्व-पूर्ण ग्रन्थ रचे हैं। उसके एक ग्रन्थ का नाम है विश्व-रहस्य (Riddle of the Universe) उसने इस ग्रन्थ में इस बात का निरूपण किया है कि यह सारा विश्व एक रसात्मक है; वह एक ही अद्वितीय तत्व का प्रसार है, उसकी जड़ में एक ही परम तत्व का अधिष्ठान है। उसी के अन्तर्गत किसी अनिर्वचनीय शक्ति की प्रेरणा से उसका काम यथानियम होता है। इस प्रकार इस अनात्मवादी वैज्ञानिक ने भी विश्व में किसी परम तत्व की अवस्थिति को स्वीकार किया है और प्रकारान्तर उपनिषदों ही के "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" संज्ञक महावाक्य की सत्यता सिद्ध कर दिखाई है। क्योंकि आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व पृथक् न स्वीकार करने पर भी, उसका तत्वाद्वैतवाद किसी अखण्ड और अद्वितीय सत्ता की गवाही दे रहा है। काशी की नागरी-प्रचारणी सभा के प्रयत्न से हैकेल के इस ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी में हो गया, यह बहुत अच्छा हुआ। यदि अध्यापक वसु के ग्रन्थों का भी अनुवाद हो जाय तो हम लोगों में से अनभिज्ञों और सन्दिहानों को अपने स्वरूप का कुछ अधिक ज्ञान हो जाय। वे यह तो जान जायं कि हम किनकी सन्तान हैं; हमारे पूर्वजों ने ज्ञान की कितनी प्राप्ति की थी; ज्ञानोन्नति में किसी समय हमारा देश कहां तक पहुंचा था।

विदेशी भाषाओं में ऐसे सहस्रशः ग्रन्थ विद्यमान हैं जिनके अनुवाद से हमारी जाति और हमारे देश को अपरमेय लाभ पहुंच सकता है। परन्तु, खेद की बात है, उस तरफ हमारा बहुत ही कम ध्यान है। जो समर्थ हैं और जो अङ्गरेज़ीदाँ बनकर, अनेक बातों में, अंगरेज़ों की नक़ल करना ही अपना परम धर्म्म समझते हैं उनको कृपा करके किसी तरह जगा दीजिए। उन्हें अपने साहित्य की उन्नति से होनेवाले

लाभ बता दीजिये और उनको इस बात की प्रेरणा कीजिये कि वे अंगरेज़ी तथा अन्य भाषाओं के आदरणीय ग्रन्थों का अनुवाद करके अपनी भाषा के साहित्य की वृद्धि करें। साथ ही इस बात पर भी ज़ोर दीजिये कि शक्ति, सामर्थ्य और योग्यता रखने वाले विद्वान् मौलिक ग्रन्थों की भी रचना करके अपनी विद्या और शिक्षा को सफल और सार्थक करें।

सज्ञान होकर भी जो मनुष्य अपने पूर्वजों के गौरव की रक्षा नहीं करता, शिक्षित होकर भी जो मनुष्य अपनी भाषा का आदर नहीं करता, समर्थ होकर भी जो मनुष्य अपने साहित्य की परिपुष्टि करके अपनी जाति और अपने देश को ज्ञानोन्नत नहीं करता वह अपने कर्त्तव्य से च्युत समझा जाता है। मातृभूमि और मातृभाषा दोनों ही के लिये उसका होना न होना एक ही सा है। अपनों का प्यार न करनेवाले—अपनों के सुख-दुःख में शामिल न होनेवाले—के लिए बस एक ही काम रह जाता है। वह है भिक्षापात्र लेकर दूसरों के द्वार पर, हर बात के लिए, फेरी लगाना। जीवन्मृत या आत्महन्ता की संज्ञा का निर्माण ऐसे ही मनुष्यों के लिए हुआ है। कृपा करके ऐसे पुरुष-पुङ्गवों को इस संज्ञा-निर्देश से बचा लीजिये।

१०—हिन्दी-भाषा के द्वारा उच्च शिक्षा।

मातृभाषा के साहित्य का महत्व बहुत उच्च है। परन्तु इन प्रान्तों में उसी की शिक्षा का बहुत कुछ अभाव देख कर हृदय में उत्कट वेदना उत्पन्न होती है। बड़ी कठिनता से हाई स्कूलों के आठवें दरजे तक तो हिन्दी को किसी तरह दाद मिल गई है, पर आगे नहीं। बम्बई-विश्वविद्यालय में मराठी साहित्य की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है; मद्रास-विश्वविद्यालय में तामील और तैलगू भाषाओं का निर्बाध प्रवेश है; कलकत्ता-विश्वविद्यालय में भी बँगला-भाषा का साहित्य उच्चासन पर आसीन है—उसमें तो हिन्दी-साहित्य के प्रवेश का भी द्वार खुल गया है—पर, जिन अभागे संयुक्त-प्रान्तों की भाषा हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी है उनके विश्व-विद्यालय में वह अछूत जातियों की तरह अस्पृश्य मानी जाती है। उसके तो नाम से ही कुछ सदाशय देश-बन्धुओं के मुँह से "दूर दूर" की आवाज़ निकला करती है। उन्हें तो आठवें दरजे तक भी हिन्दी का प्रवेश खटकता है; उनकी सम्मति में उसके प्रवेश से अंगरेज़ी भाषा की शिक्षा में विघ्न उपस्थित होता है। सुदूरवर्ती और द्राविड़-भाषा-भाषी मदरास-प्रान्त के माध्यमिक दरजों (Intermediate Classes) में तो हिन्दी पढ़ाई जाय—ऐच्छिक विषयों में उसके अध्ययन की भी स्वीकृति वहां का विश्व-विद्यालय दे दे—पर अपने ही घर में, अपने ही प्रान्त में, बेचारी हिन्दी धसने तक न पावे। अपनी भाषा के साहित्य का इतना निरादर और उसके साथ इतना अन्याय क्या किसी और भी देश, अथवा इसी देश के क्या किसी और भी प्रान्त, में देखा जाता है? इलाहाबाद विश्वविद्यालय के जिन सेनेटरों का इन प्रान्तों की भूमि अपने ऊपर धारण करती है और जिनके बूटों की ठोकरें खाया करती है उनकी इस उदारता के लिए उन्हें अनेक धन्यवाद! जिस भाषा को उन्होंने अपनी मां से सीखा, जिसकी कृपा से ही वे अंगरेज़ी भाषा और अंगरेज़ी साहित्य के पारगामी पण्डित बने, और जिसकी बदौलत ही अब भी उनके गार्हस्थ-जीवन सम्बन्धी सारे काम चलते हैं उसी के साथ उनके इस सलूक का दृश्य मनस्वी मनुष्यों ही के नहीं, देवताओं के भी देखने योग्य है! भगवान्, आप तो करुणासागर कहाते हैं। इन प्रान्तों ने ऐसा कौन सा घोर पाप किया

है जो आप इन मातृभाषाभक्तों के हृदयों में आत्मगौरव और आत्माभिमान का न सही, करुणा तक का उद्रेक नहीं करते ? स्वराज्य का भाव जब आपने इनके हृदयों में जागृत कर दिया तब स्वभाषा के साहित्य की महत्ता का भाव क्यों न जागृत किया ? क्या इन दोनों में अन्योन्याश्रय भाव नहीं ? क्या ये एक दूसरे के आश्रय बिना बहुत समय तक टिक सकते हैं ? देवताओ, तुम्हारा कारुण्य-पारावार क्या बिलकुल ही सूख गया ? क्या किसी कुम्भजन्मा ने उसे समग्र ही पी लिया ? क्या उसके एक ही छींटे से हिन्दी-साहित्य का सन्ताप नहीं दूर हो सकता ?

तदुग्रतापव्ययसक्तशीकरः सुराः

स वः केन पपे कृपार्णवः ?

उदेति बुद्धिर्हृदि नोऽशुभेतरा

किमाशु संकल्पकणश्रमेण वः ?

भाइयो, यदि और कहीं से कुछ भी सहायता न मिले तो आप ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कर्णधारों का मोह-निद्रा भङ्ग करने की चेष्टा कीजिए । देखिए, उनके कर्त्तव्य-पराङ्मुख होने से अपनी कितनी हानि हो रही है । शेक्सपियर, श्यली और बाइरन ही की नहीं, चासर तक को याद करते करते हम अपने सूर, तुलसी, बिहारी और केशव को भी भूलते जा रहे हैं ! नार्मन और सेक्सन लोगों तक की भी पुरानी कथायें कहते कहते हम अपने यादवों, मौर्यों और कण्वों का नाम तक विस्मृत करते जा रहे हैं । टेम्स और मिसीसिपी, डान और डन्यूब की लम्बाई, चौड़ाई और गहराई नापते नापते हम यह भी जानने की ज़रूरत नहीं समझने लगे कि अपने ही प्रान्त अथवा अपने ही ज़िले की गोमती और घाघरा, बेतवा और सई, लोनी और रामगङ्गा कहाँ से निकलीं और कहाँ गिरी हैं, तथा उनके तट पर कौन कौन प्रसिद्ध नगर और क़सबे हैं ! यदि छोटे दरजों में पढ़ाई जाने वाली किताबों में इन नदियों आदि का उल्लेख भी कहीं मिलता है तो यों ही उड़ते हुए दो चार शब्दों में ! हमको धिक् ! यदि अपनी भाषा और उनके साहित्य की पढ़ाई का पूरा प्रबन्ध होता तो क्या आज ऐसी दुर्व्यवस्था देखने का दिन आता ? क्या इस दशा में भी जातीयता के भावों की रक्षा हो सकती है ?

मैं यह नहीं कहता कि अँगरेज़ी भाषा और उसके साहित्य की उच्च शिक्षा न दी जाय । नहीं, ज़रूर दी जाय । देश की वर्तमान स्थिति में बिना उसकी शिक्षा के तो हमारा निस्तार ही नहीं । मैं तो यहाँ तक समझता हूं कि स्थिति बदलने पर भी—राजनैतिक कारणों का दबाव दूर होने पर भी—अँगरेज़ी भाषा और उसके साहित्य की शिक्षा की शायद फिर भी आवश्यकता बनी रहे । क्योंकि अन्य भाषायें—चाहे वे स्वदेशी हों चाहे विदेशी—हमें सभी की सहायता से अपनी ज्ञानवृद्धि करनी है । ज्ञान कहीं भी क्यों न हो, उसे ग्रहण करनाही चाहिए । योरप और अमेरिका ही में नहीं, जापान तक में देखिए, विदेशी भाषाओं और उनके साहित्य की शिक्षा का यथेष्ट प्रबन्ध है । मेरा निवेदन इतना ही है कि अपने प्रान्त में, अँगरेज़ी-साहित्य की उच्च शिक्षा के साधनों के साथ ही साथ, अपनी भाषा के भी साहित्य की शिक्षा के साधन सुलभ हो जाने चाहिए । बनारस और लखनऊ के विश्वविद्यालयों ने इसका सूत्रपात कर दिया है, यह प्रसन्नता की बात है । एक महाशय ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विचारकों की सभा में भी विचार के लिए एक प्रस्ताव भेजा था । नहीं मालूम, उसका क्या नतीजा हुआ । पर, अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता । एक

नहीं, अनेक जनों को इस विषय में प्रयत्नशील होना चाहिए।

हिन्दी-साहित्य की शिक्षा के साधन यदि, अभी हाल में, अनिवार्य्य रूप से सुलभ न कर दिये जायं, तो ऐच्छिक रूप ही से सही, कुछ तो सुभीता हो जाय, सर्व्वांश में न हो तो अल्पांश ही में कलङ्क की यह कालिमा धुल तो जाय। और तो भारत के लिए सौभाग्य का दिन तभी होगा जब हिन्दी-भाषा के द्वारा सर्व प्रकार की उच्च शिक्षा देने के लिए, विद्यमान विश्वविद्यालयों और कालेजों के साथ ही साथ, हिन्दी-विश्वविद्यालयों और हिन्दी कालेजों की भी स्थापना हो जायगी। क्या कभी उच्च-शिक्षादान के विषय में हिन्दी-साहित्य का भी सुप्रभात होगा? कृपा करके एक बार कह तो दीजिये—"होगा"।

११—समाचारपत्रों की नीति।

समाचारपत्र और सामयिक पुस्तकें भी साहित्य के अन्तर्गत हैं। अतएव उनके विषय में भी मुझे कुछ निवेदन करना है। अब वह समय आया है जब जन-समुदाय अपने को राजा से बढ़कर समझता है। वह अपने ही को राजस्थानीय जानता है। उसका कथन है कि जनता की सत्ता से ही राजा की सत्ता है, जनता की आवाज़ ही राजा या राज पुरुषों का आयोजन और नियन्त्रण करती है। इस दशा में राजनैतिक और सामाजिक विषयों में दख़ल देनेवाली सामयिक पुस्तकों और समाचारपत्रों को चाहिए कि वे अपने को जनता का मुख, जनता का वकील, जनता का प्रतिनिधि समझें, अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को भूल जायं। जो कुछ वे लिखें जनता ही के हित को लक्ष्य में रख कर लिखें, ईर्ष्या-द्वेष वैमनस्य, स्वार्थ और व्यक्तिगत हानि-लाभ की प्रेरणा के वशीभूत होकर एक सतर भी न लिखें। सत्यता के प्रकाशन को वे अपना परम धर्म्म समझें। जो समाचारपत्र जनता के हार्दिक भावों का प्रकाशन जान बूझ कर नहीं करते वे अपने ग्राहकों और पाठकों को धोखा देते हैं और अपने कर्तव्य से च्युत होते हैं। उनको चाहिये कि सत्यपरता से कभी विचलित न हों। जन-समुदाय से सत्य को छिपा रखना अपने व्यवसाय को कलङ्कित और सर्वसाधारण के साथ विश्वासघात करना है।

सम्पादकीय लेखों और नोटों में सामयिक विषयों की ही जो चर्चा की जाय उसमें असत्यता की तो बातही नहीं, अतिरञ्जना भी न होनी चाहिए। समाचार पत्रों को अन्याय और अनुचित आलोचना को पाप समझना चाहिए। जो पत्र व्यक्तिगत आक्षेपों और कुत्सापूर्ण लेखों से अपने कलेवर को काला करते हैं वे अपने पवित्र व्यवसाय का दुरुपयोग करते हैं, और जनता की दृष्टि में अपने को निन्द्य और उपहास्पद बनाते हैं। उनको व्यर्थ के पारस्परिक विवादों में न पड़ना चाहिये। व्यापार-व्यवसाय से सम्बन्ध रखने वाले और दुकानदारी के दांव पेंचों से पूर्ण विज्ञापनों को समाचारों और सम्पादकीय लेखों के आच्छादन में छिपा कर कभी प्रकाशित न करना चाहिए। विज्ञापन देनेवालों को अपने पत्र की प्रकाशित या वितरित कापियों की संख्या बढ़ा कर न बतानी चाहिए। आक्षेप योग्य, अश्लील, धोखेबाज़ी से भरे हुए विज्ञापन कभी न छापना चाहिए। अनौचित्य का सन्देह होने पर, जांच करने के अन्तर, इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए कि विज्ञापन प्रकाशनीय है या नहीं। अपने हानि-लाभ को न देख कर, जहां तक बुद्धि और विवेक काम दे, सच्चे ही विज्ञापन लेने चाहिए। सौ

बात की बात यह, कि कभी, किसी भी दशा में, जान बूझ कर सत्य का अपलाप न करना चाहिए।

अतएव प्रार्थना है कि समाचारपत्रों के नियमन के लिए आप कोई ऐसी नीति या नियमावली निश्चित कर दीजिये जो उनकी मार्ग-दर्शक हो। आप यदि कुछ नियामक नियम बना देंगे तो, बहुत सम्भव है, उनका उल्लङ्घन करने पर, आपके कशाघात के भय से, सत्य की हत्या होने से बच जाय।

१२—हिन्दीभाषा की ग्राहिका शक्ति।

हिन्दीभाषा जीवित भाषा है। जो लोग उसे किसी परिमित सीमा के भीतर ही आबद्ध करना चाहते हैं वे मानों उसका उपचय—उसकी कलेवर-वृद्धि—नहीं चाहते। जीवित भाषाओं के विषय में इस प्रकार की चेष्टा, बहुत प्रयास करने पर भी, सफल नहीं हो सकती। संसार में शायद ऐसी एक भी भाषा न होगी जिस पर, सम्पर्क के कारण, अन्य भाषाओं का प्रभाव न पड़ा हो और अन्य भाषाओं के शब्द उसमें सम्मिलित न होगये हों। अङ्गरेज़ी भाषा संसार की प्रसिद्ध और समृद्ध भाषाओं में है। उसी को देखिये। उसमें लैटिन, ग्रीक, फ्रेंच, जर्मन और सैक्सन आदि अनेक भाषाओं के शब्दों, भावों और मुहावरों का संमिश्रण है। यहां तक कि उसमें एक नहीं, अनेक शब्द संस्कृत-भाषा तक के, कुछ थोड़े ही परिवर्तित रूप में पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ पाथ (Path) के रूप में, हमारा पथ और ग्रास (Grass) के रूप में हमारा घास शब्द प्रायः ज्यों का त्यों विद्यमान है। बात यह है कि जिस तरह शरीर के पोषण और उपचय के लिए बाहर के खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है वैसे ही सजीव भाषाओं की बाढ़ के लिए विदेशी शब्दों और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिसमें ऐसा होना बन्द हो जाता है वह उपवास सा करती हुई किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव सी ज़रूर हो जाती है। दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों को ग्रहण कर लेने की शक्ति रखना ही सजीवता का लक्षण है। और, जीवित भाषाओं का यह स्वभाव, प्रयत्न करने पर भी, परित्यक्त नहीं हो सकता क्योंकि सजीव भाषायें नियन्त्रण करनेवालों की शक्ति की सत्ता के बाहर हैं।

हमारी हिन्दी सजीव भाषा है। इसी से, सम्पर्क के प्रभाव से उसने अरबी, फ़ारसी और तुर्की भाषाओं तक के शब्द ग्रहण कर लिए हैं और अब अंगरेज़ी-भाषा के भी शब्द ग्रहण करती जा रही है। इसे दोष नहीं, गुण ही समझना चाहिए। क्योंकि अपनी इस ग्राहिका-शक्ति के प्रभाव से हिन्दी अपनी वृद्धि ही कर रही है, ह्रास नहीं। ज्योंज्यों उसका प्रचार बढ़ेगा त्यों त्यों उसमें नये नये शब्दों का आगमन होता जायगा। क्या नियन्त्रण के किसी भी पक्षपाती में यह शक्ति है कि वह जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध को तोड़ दे अथवा भाषाओं की सम्मिश्रण-क्रिया में रुकावट पैदा कर दे? यह कभी सम्भव नहीं। हमें केवल यह देखते रहना चाहिए कि इस सम्मिश्रण के कारण कहीं हमारी भाषा अपनी विशेषता को तो नहीं खो रही—कहीं बीच बीच में अन्य भाषाओं के बेमेल शब्दों के योग से वह अपना रूप विकृत तो नहीं कर रही। मतलब यह कि दूसरों के शब्द, भाव और मुहावरे ग्रहण करने पर भी हिन्दी हिन्दी ही बनी है या नहीं। बिगड़ कर कहीं वह और कुछ तो नहीं होती जा रही। बस।

विदेशी भाव, शब्द और मुहावरे ग्रहण करने

में केवल यह देखना चाहिए कि हिन्दी उन्हें हज़म कर सकती है या नहीं। उनका प्रयोग खटकता तो नहीं ; वे उसकी प्रकृति के प्रतिकूल तो नहीं। मकान, मिज़ाज, मालिक विदेशी-भाषा के शब्द हैं ; पर हिन्दी ने उन्हें आत्मसात् कर लिया—उन्हें उसने हज़म कर लिया है। उन्हें स्त्रियां और बच्चे तक, पढ़े लिखे और अपढ़ सभी बोलते हैं। इस कारण विदेशी होकर भी वे अब स्वदेशी हो गये हैं। उनको अब सर्वथा हिन्दी-शब्द-मालिका के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसी तरह नोट, नम्बर, बोतल और कौंसिल आदि शब्द भी विदेशी होकर भी स्वदेशी बन गये हैं। करने से भी, उन के बहिष्कार की चेष्टा कभी सफल नहीं हो सकती। अतएव विदेशी भाषाओं के जो शब्द अपनी भाषा में खप गये हैं वे सब हिन्दी ही के हो गये हैं और आगे जो खपते जायंगे वे भी हिन्दी ही की मिलकियत होते जायंगे। हिन्दी जीती-जागती भाषा है। दूसरों की दी हुई चीज़ को ले लेने का अधिकार उसे स्वयं प्रकृतिही ने दे रक्खा है। उसे कोई छीन नहीं सकता। इस दशा में यह कहना कि यह शब्द हमारी भाषा का नहीं, इससे हम इसका बहिष्कार कर देंगे, प्रकृति के प्रबल प्रवाह को रोकने का व्यर्थ परिश्रम करना है।

हां, एक बात अवश्य है। वह यह कि जो भाव या जो मुहावरे हिन्दी में न खप सकते हों, अर्थात् जो खटकनेवाले हों—जिन्हें हिन्दी हज़म न कर सकती हो—उनका प्रयोग सहसा न करना चाहिये। उदाहरणार्थ—दृष्टिकोण, हाथ बटाना, लागू होना, नङ्गी प्रकृति इत्यादि भाव या मुहावरे बोलचाल की हिन्दी में नहीं खपते। इनका प्रयोग भी कुछ ही समय से होने लगा है। यही भाव विचार-दृष्टि, सहायता करना और घटित होना लिखने या बोलने से अच्छी तरह व्यक्त किये जा सकते हैं और खटकते नहीं। नङ्गी प्रकृति अङ्गरेज़ी मुहावरे "Naked Nature" का अनुवाद है। उस में इतना वैदेशिक भाव भरा हुआ है कि उससे मिलता-जुलता मुहावरा हिन्दी की टकसाल में ढालना किसी बहुत बड़े तजरुबेकार मिन्ट मास्टर (Mint Master) ही का काम है। अभी तो इस तरह के मुहावरे ज़रूर खटकते हैं, पर यदि इन का प्रचार बढ़ताही गया तो किसी दिन यह खटक जाती रहेगी और ये भी हिन्दी ही के मुहावरे हो जायंगे ; क्योंकि बन्दूक का छर्रा यदि शरीर के भीतर बहुत समय तक रह जाता है तो उससे भी उत्पन्न कसक धीरे धीरे जाती रहती है। तथापि इस प्रकार के अप्राकृतिक प्रयोग इष्ट नहीं। उनकी संख्या-वृद्धि से हिन्दी की विशेषता को धक्का पहुंचने का डर है।

१३—हिन्दी भाषा और व्याकरण।

हिन्दी का घनिष्ट सम्बन्ध संस्कृत से है। कोई तो संस्कृत को उसकी माता या मातामही बताते हैं, कोई प्राकृत को। कुछ विद्वान् उसके सम्बन्ध-सूत्र को खींच कर वैदिक संस्कृत तक पहुंचा देते हैं। अस्तु। संस्कृत, वैदिक संस्कृत और प्राकृत चाहे उसकी माता हों, चाहे मातामही, चाहे और कुछ, इस निर्णय का अधिकारी मैं नहीं और न इसका निर्णय करने या इस विषय में शास्त्रार्थ करने की शक्ति ही मुझमें है। मेरा निवेदन तो इतना ही है कि संस्कृत और प्राकृत से घनिष्ट सम्बन्ध रखने पर भी, हिन्दी भिन्न भाषा है और भिन्न होने के कारण वह उन भाषाओं से अपनी निज की कुछ विशेषता रखती है। इससे संस्कृत या संस्कृत-व्याकरण के नियमों पर, आंख मूँद कर, चलने के लिए वह बाध्य नहीं।

जिस शब्द के साथ जिस विभक्ति का योग होता है वह उसी का अंश हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं। पर क्या इसी कारण से वैय्याकरणों को यह हुक्म देने का अधिकार प्राप्त हो जाता है कि विभक्तियों को शब्दों से जोड़ कर ही लिखो; उनके बीच ज़रा भी कोरी जगह, अर्थात् "स्पेस", न छोड़ो ? क्या संस्कृत व्याकरण में भी कोई नियम ऐसा है ? अनन्त काल से संस्कृत-भाषा लिखने में विभक्तियां ही नहीं, बड़े बड़े शब्द, वाक्य, श्लोक और सतरें की सतरें तक मिला कर ही लिखी जाती रही हैं और अब भी पुरानी चाल के पण्डितों के हाथ से लिखी जाती हैं। क्या इसके लिए भी संस्कृत-व्याकरण में कोई नियम है ? क्या इस तरह की संलग्नता से संस्कृत-भाषा में कुछ विशेषता आ गई ? क्या उसकी उन्नति और साहित्य-वृद्धि का कारण यह संलग्नता भी मानी जा सकती है ? अथवा क्या इससे उसे कुछ हानि पहुंची ? क्या उसका विकास या उन्नति बन्द हो गई ? यही हाल अरबी, फ़ारसी और उर्दू का भी है। यह तो कोई व्याकरण की बात नहीं; केवल सुभीते या परिपाटी की बात है।

संस्कृत में भ्याम्, भ्यः (भ्यस्), भिः (भिस्) आदि विभक्तियां लगने पर, शब्दों में कई प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं; उनका रूप कुछ का कुछ हो जाता है; विभक्तियाँ उनका अंश हो जाती हैं; वे उनसे पृथक् रही नहीं सकतीं। इस कारण संलग्नता की बात संस्कृत के लिए तो ठीक ही है, पर हिन्दी को भी उसी नियम से जकड़ने की क्या आवश्यकता ? संस्कृत के कोश आप ढूँढ़ डालिए; भ्याम्, भ्यः आदि विभक्तियां उनमें, पृथक् शब्दों के रूप में, कहीं न मिलेंगी। वे पृथक् शब्द नहीं मानी गईं। पर हिन्दी का कोई भी प्रतिष्ठित कोश—पादरी बेट तक का—आप उठा लीजिए। उसमें को, के, से, में आदि का निर्देश आपको, स्वतन्त्र शब्दों की तरह किया गया, मिलेगा। अतएव यदि कुछ लेखक, हिन्दी में, विभक्तियों को अलग लिखें तो क्या कोई बड़ी अमाननीय या अस्वाभाविक बात हो जाय ? क्या ऐसा करने से हिन्दी की उन्नति में बाधा उपस्थित हो सकती है ? यह व्याकरण का विषय नहीं, यह तो रूढ़ि का—परिपाटी का, लिखने के ढँग का—विषय है। शब्द अलग अलग होने से पढ़ने में सुभीता होता है, भ्रम की सम्भावना कम रह जाती है। जिनको यह ढँग पसन्द न हो वे विभक्तियों ही को नहीं, शब्दों को भी परस्पर मिला कर लिख सकते हैं। साठ सत्तर वर्ष पूर्व छपी हुई हिन्दी पुस्तकों में भी संस्कृत ही के सदृश, लम्बी शब्द-संलग्नता विद्यमान है। अनेक नई बाज़ारू पुस्तकों में, अब भी, उसके दर्शन होते हैं। बताइए, संलग्नता ने हिन्दी-साहित्य की कितनी उन्नति की ? अथवा शताब्दियों से प्रचलित शब्द-संलग्नता अरबी और फ़ारसी भाषाओं की भी कितनी उन्नति और श्रीवृद्धि का कारण हुई ? संलग्नता और असंलग्नता की बात तो अभी चार दिन की है। उसकी उद्भावना का कारण पुस्तकों आदि का टाइप द्वारा छपना है। उसके पहले तो यह बात किसी के ध्यान में भी न आई होगी; क्योंकि स्पेस देने, अर्थात् शब्दों के बीच में जगह छोड़ने के उत्पादक "स्पेस" ही हैं। अतएव जो संलग्नता के पक्षपाती हैं अथवा जो काग़ज़ के खर्च में कुछ बचत करना चाहते हैं वे, मराठी भाषा के लेखकों की तरह, खुशी से विभक्तियों को शब्दों के साथ मिला कर लिखें। परन्तु जो उनको इस प्रणाली के अनुयायी नहीं उनपर आक्षेप करने और उनकी हंसी उड़ाने के लिए व्याकरण उन्हें शरण नहीं दे सकता। जो प्रणाली अधिक सुभीते की होगी या जिसका आश्रय अधिक लेखक लेंगे वह आप ही बल

जायगी और उसकी विपरीत प्रणाली परित्यक्त हो जायगी। लिपि की सादृश्य-रक्षा के ख़याल से यदि इस विवाद की नीव डाली गई हो तो बलवत् कोई किसी की रुचि या आदत को नहीं बदल सकता। जिन्हें विभक्तियां अलग लिखना ही अच्छा लगता है और जो जान बूझकर वैसा लिखना नहीं छोड़ते, दुर्वाक्यों का प्रयोग उन्हें उनके निश्चय से नहीं विचलित कर सकता; उलटा वह उसे और दृढ़ अवश्य कर सकता है।

जीती-जागती भाषा होने के कारण, हिन्दी का उपचय हो रहा है। उसमें नये नये शब्द, नये नये भाव, नये नये मुहावरे आते जाते हैं। यह कोई अस्वाभाविक या अचम्भे की बात नहीं। सभी सजीव भाषाओं में यह होता है। पर, इस बात की ओर विशेष ध्यान न देकर, लिङ्ग-निर्देश के विषय में, कभी कभी बड़ा विवाद—नहीं, वितण्डा-वाद तक—खड़ा हो जाता है और यदा कदा वह कुत्सा और विकत्थना का भी रूप धारण कर लेता है।

श्याम-शब्द संस्कृत-भाषा का है। उसमें तालव्य श् है। वह ज्यों का त्यों हिन्दी में आ गया है, अर्थात् वह तत्सम शब्द है। अब कल्पना कीजिये कि श्याममनोहर नाम के किसी एक लेखक ने, अपने नाम के पूर्वार्ध श्याम में, तालव्य श् के बदले दन्त्य स् लिख दिया। यह देखकर हिन्दी के समालोचक बिगड़ उठे और लगे उसकी ख़बर लेने। उन्होंने दन्त्य स् का प्रयोग अशुद्ध ठहराया। उनकी यह पकड़ सर्वथा उचित है। और भी यदि दो चार भूले-भटके लेखक इस शब्द में दन्त्य स् का प्रयोग करें तो उनका भी वह प्रयोग अवश्य ही अशुद्ध माना जायगा। परन्तु यदि श्याममनोहर के सैकड़ों अनुयायी उत्पन्न हो जायं और वे भी, जान बूझकर, तालव्य के स्थान में दन्त्य ही स् लिखने लगें तो क्या हो? तो क्या वह शब्द तब भी अशुद्ध ही माना जा सकेगा? यदि माना जाय तो कहना पड़ेगा कि हिन्दी भाषा मर गई! तो यही समझना होगा कि वाग्धारा का प्रवाह सेवक है और व्याकरण उसका स्वामी। परन्तु यह बात नितान्त अस्वाभाविक और बेजड़ है। व्याकरण तो वाग्धारा का दास है। स्वामित्व उसके भाग्य में कहां?

व्याकरण का काम सिर्फ इतना ही है कि लोग जैसी भाषा बोलें या लिखें उसकी वह सङ्गति-मात्र लगादे; उसके नियम-मात्र वह बता दे। उसे यह कहने का कोई अधिकार नहीं कि तुम इसी तरह बोलो, या इसी तरह लिखो, या इस शब्द का प्रयोग इसी लिङ्ग में करो। इस तरह का विधान करनेवाला व्याकरण कौन है? उसे तो शिष्ट लेखकों और वक्ताओं की आज्ञा के पालन-मात्र का काम सौंपा गया है। उसे वह करे। यदि वह उसके आगे जायगा तो आज्ञोल्लङ्घन का अपराधी होगा। दो आज्ञाओं के पेच में पड़ने पर उसका कर्तव्य केवल इतना ही है कि दोनों प्रकार के प्रयोगों को वह साधु प्रयोग माने—वह कहे कि श्याम भी ठीक है और स्याम भी। अपप्रयोग तभी तक माना जा सकता है जब तक भ्रम या अज्ञान के वशवर्ती होकर, कुछ ही जन किसी शब्द, वाक्य, मुहावरे आदि को, प्रचलित रीति के प्रतिकूल, बोलते या लिखते हैं। परन्तु यदि धीरे धीरे सैकड़ों मनुष्य उसे उसी तरह लिखने लगते हैं तब वह अपप्रयोग नहीं रह जाता; तब तो वह भी साधु प्रयोग हो जाता है।

हिन्दी में दही-शब्द पुलिङ्ग (संस्कृत, पुलिङ्ग) माना जाता है। क्योंकि अधिक तर बोलने और लिखनेवाले उसे उसी लिङ्ग में व्यवहार करते हैं। परन्तु यदि ज़िले के ज़िले और प्रान्त के प्रान्त उसे स्त्री-लिङ्ग में व्यवहार करें—और मैं सुनता हूं कि बिहार-प्रान्त में हज़ारों आदमी ऐसा करते भी हैं—तो वह उभय-लिङ्गी

हो जायगा। न तो देहली, आगरे, लखनऊ, कानपुर और बनारसवालों ही को भगवती वाग्देवी ने इस बात का इजारा दे रक्खा है कि लिङ्ग-निश्चय करने के वही अधिकारी हैं, और न किसी वैय्याकरण ही को इस तरह का कोई अनुशासन-पत्र उससे मिला है। जिस शब्द का प्रयोग जिस लिङ्ग में लोग करेंगे वह उसी लिङ्ग का समझा जायगा। यदि दोनों लिङ्गों में वह बोला जाता होगा तो वह उभयलिङ्गी हो जायगा।

जितनी भाषायें हैं सब अपनी अपनी विशेषता रखती हैं। उनके शिष्ट लेखक जिस शब्द को जिस लिङ्ग का मान लेते हैं वही लिङ्ग उसका हो जाता है। Moon अर्थात् चन्द्रमा में क्या किसी ने स्त्रीत्व का कोई चिन्ह देखा है? फिर वह अङ्गरेज़ी-भाषा में क्यों स्त्री-लिङ्ग हो गया? अमेरिका, फ्रांस, इङ्गलैंड, जर्मनी आदि देशों और महादेशों में क्या स्त्रियां ही स्त्रियां रहती हैं? फिर वे स्त्री-लिङ्ग कैसे हो गये? इस तरह की विलक्षणता से शायद कोई भी भाषा ख़ाली न होगी। संस्कृत-भाषा तो विलक्षणताओं की खानि ही है। देखिये—

(१) पति-शब्द पुलिङ्ग भी है और स्त्री-लिङ्ग भी

(२) दिव्य-शब्द विशेषण भी है, पुलिङ्ग भी है और क्लीब-लिङ्ग भी

(३) साधु-शब्द विशेषण भी है, अव्यय भी है, पुलिङ्ग भी है और स्त्री-लिङ्ग भी

संस्कृत-भाषा के कुछ शब्द तो वाग्धारा के और भी अधिक विभागों में घुस गये हैं। कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिनकी विलक्षणता का ठिकानाही नहीं।

संस्कृत में एक शब्द है दार। वह जब दर्ज़ या छेद के अर्थ में आता है तब तो पुल्लिङ्ग होता ही है; पर जब स्त्री या पत्नी के अर्थ में आता है तब भी पुलिङ्ग ही बना रहता है और इतनी विशेषता या विलक्षणता और भी धारण कर लेता है कि बहु-वचन बनकर वह दाराः हो जाता है। इस दशा में चाहे वह एक ही पत्नी का बोधक क्यों न हो, अपना बहुत्व वह नहीं छोड़ता। अब, कहिए, वैय्याकरण बेचारे किस किस शब्द के लिङ्ग-निर्देश की भूलें बतावेंगे। सच तो यह है कि ये भूलें नहीं। बोलने और लिखनेवालों ने जिस शब्द का प्रयोग जिस लिङ्ग में जिस तरह किया है वैय्याकरणों ने केवल उसका उल्लेख कर दिया है — केवल उन प्रयोगों की सङ्गति लगा कर उन्हें नियमबद्ध कर दिया है।

हिन्दी के कुछ हितैषी चाहते हैं कि क्रियाओं के रूपों में सादृश्य रहे। वे किसी न किसी नियम के अधीन ज़रूर रहें। एक उदाहरण लीजिये। वे कहते हैं कि जाना-धातु का, भूत-काल में, पुलिङ्ग-रूप होता है "गया"। अतएव स्त्री-लिङ्ग में वह होना चाहिए "गयी" अर्थात् उस गई में अकेली ई-कार ही न रहे, य् अर्थात् य कार को भी वह अपने साथ रक्खे। "गया" का उद्भव हुआ है "जाना" धातु से। उस "जाना" में न ग-कारही है और न य-कार ही। सो "गया" में "जाना" धातु के दोनों वर्णों का सर्वथा लोप हो जाना तो उन्हें सह्य है; पर "गया" के स्त्री-लिङ्ग में यदि य-कार का लोप कर दिया जाय तो वह उन्हें सह्य नहीं! कुछ लोग तो इसके भी आगे जाते हैं। वे "लिया" और "दिया" के रूप, स्त्री-लिङ्ग में, "ली" और "दी" न लिख कर "लिई" और "दिई" लिखने की सलाह देते हैं। और एक सज्जन ने तो, कुछ समय तक, इस सलाह को कार्य में परिणत भी कर दिखाया है। यह बात इतनी ही नहीं; इस के भी बहुत आगे बढ़ गई है। सरलता के कुछ पक्ष-पातियों की राय तो यह है कि क्रियाओं को लिङ्ग-भेद के झमेले से एकदम ही

मुक्त कर देना चाहिए, जिस से बङ्गालियों, मद्रासियों और महाराष्ट्र-देश के वासियों को हिन्दी सीखने में सुभीता हो और महीने ही दो महीने में वे हमारी भाषा के सुपण्डित हो जायं।

इन महाशयों के वाद, विवाद, शास्त्रार्थ, तर्क और कभी कभी कुतर्क भी सुनकर इन्द्र, चन्द्र, शाकटायन और पाणिनि आदि की आत्माएं क्या कहती होंगी, सो तो भगवान्‌ही जाने। हां, इतना तो वे जरूर ही कहती होंगी कि भला जीतीजागती भाषाओं की वाग्धारा का प्रवाह भी किसी वैय्याकरण या भाषावेत्ता या लेखकोत्तंस के रोकने से रुक सकता है? सिन्धु या ब्रह्मपुत्र का प्रवाह क्या दो चार पूले तृण डाल देने से बन्द हो सकता है? यदि ऐसा होता तो हम लोगों को जगह जगह पर विभाषा और विकल्प की दुहाई क्यों देनी पड़ती? जगह जगह पर क्यों हमें अपने पूर्ववर्ती वैय्याकरणों की शरण जाकर यह कहना पड़ता कि अमुक आचार्य इस प्रयोग या इस शब्द के इस रूप को भी शुद्ध मानता है और अमुक उस रूप को भी? क्यों हमें अनेक बार इस बात का निर्देश करना पड़ता कि पूर्ववाले इस तरह बोलते या लिखते हैं और पश्चिम-वाले इस तरह? सौ बात की बात यह कि वक्ताओं का मुंह और लेखकों की लेखनी वैय्याकरण नहीं बन्द कर सकते।

एक शब्द या एक पद दो तरह भी लिखा जा सकता है और यदि दोनों रूपों के आश्रय-दाता शिष्ट जन हैं तो वे दोनों ही प्रचलित हो जाते हैं और दोनों ही शुद्ध माने जाते हैं। इस में न तर्क काम देता है, न व्याकरण, न कोश। संस्कृत-शब्द कोसल दन्त्य स् से भी लिखा जाता है और तालव्य श् से भी। स्वयं कोष-शब्द को मूर्द्धन्य ष् और तालव्य श् दोनों को आश्रय देना पड़ा है।

धातु-रूपों का भी यही हाल है। उन में भी सभी कहीं नियमों का एकाधिकार नहीं। श्री और स्त्री शब्द दोनों सदृश हैं। दोनों का वज़न भी एक ही सा है। पर कर्तृ-कारक, प्रथमा-विभक्ति, में स्त्री तो स्त्री ही रह जाती है, श्री के आगे विसर्ग कूद पड़ते हैं और वह श्रीः में परिवर्तित हो जाती है। अब उल्टी विचित्रता देखिये। द्वितीया-विभक्ति के योग में श्री-शब्द का एक-वचनान्त रूप होता है श्रियम् और बहुवचनान्त श्रियः। इसी तरह स्त्री शब्द के भी रूप होते हैं — स्त्रियम् और स्त्रियः। परन्तु जिस ज़माने में संस्कृत बोल-चाल की भाषा थी उस ज़माने में कुछ लोग वैसे ही बिगड़े-दिल थे जैसे आज कल "गया" के स्त्रीलिंग में य-कार का बहिष्कार कर के केवल ई-कार का स्वीकार करनेवाले हैं। वे स्त्रियम् और स्त्रियः के बदले "स्त्रीम्" और "स्त्रीः" लिखते और बोलते रहे। नतीजा यह हुआ कि वैय्याकरणों को झख मार कर उन के स्वीकृत रूपों को भी शुद्ध ही मानना पड़ा।

संस्कृत-भाषा में क्रियाओं के रूपों की विलक्षणताओं के उदाहरण देकर इस वक्तव्य को मैं जटिल नहीं बनाना चाहता। इस से उन्हें छोड़ता हूं।

निष्कर्ष यह कि वाग्धारा का प्रवाह रोका नहीं जा सकता। एक शब्द या एक पद दो रूपों में भी प्रचलित हो सकता है और प्रचलित हो जाने से वैय्याकरणों को अपने व्याकरणों में दोनों ही को स्थान देना पड़ता है। कोई लेखक भ्रमवश किसी शब्द का विरूप प्रयोग करे तो वह अवश्य अशुद्ध है। पर शिष्ट लेखकों के द्वारा जान बूझ कर किये गये ऐसे प्रयोग अशुद्धि की कोटि से निकल कर शुद्धि की कोटि में चले जाते हैं। इस विभिन्नता या इस दृश्य को देख कर किसी का उपहास करना

स्वयं अपने को उपहास्य बनाना है। हाथी के लिए यदि कोई यह कह दे कि वह आती है तो हिन्दी के वैय्याकरण उसका मज़ाक़ ज़रूर उड़ावें। पर हाथी ही का पर्य्यायवाची शब्द करेणु, संस्कृत में, पुल्लिङ्ग भी है और स्त्री-लिङ्ग भी!

इस निवेदन से मेरा यह मतलब नहीं कि हिन्दी-रचना और देवनागरी लिपि में अनाचार या कामचार से काम लिया जाय। मैं ग़दर का पक्षपाती नहीं। ग़दर मचानेवालों का तो कहीं भी गुज़र नहीं। पकड़े जाने पर उन्हें अवश्य ही दण्ड दिया जाय। उन का निग्रह होना ही चाहिए। परशिष्ट लेखकों के अनुगामी लोग बाग़ी या अपराधी न समझे जायं।

१४—कविता की भाषा।

अभी कुछ समय पहले तक जो लोग कविता या पद्य-रचना में बोल-चाल की भाषा काम में लाते थे, उनकी बे-तरह ख़बर ली जाती थी। वे शाखामृग और लम्बकर्ण आदि उपाधियों से विभूषित किये जाते थे। इन उपाधिदाताओं की आवाज़ अब बहुत ही विरल और धीमी पड़ गई है। पर अब भी, कभी कभी, उसे सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। तथापि समय ने दिखा दिया है कि उन की युक्तियों और विभीषिकाओं में कितना सार था और उनकी दी हुई उन उदारतासूचक उपाधियों के पात्र कौन हैं। अतएव इस विषय में और कुछ कहने सुनने की आवश्यकता नहीं।

मेरा यह वक्तव्य आवश्यकता से अधिक लम्बा हो गया। इससे, सम्भव है, आप सभापति महोदय के विद्वत्तापूर्ण और महत्तामय भाषण सुनने के लिए उतावले हो रहे होंगे। अतएव अब मैं कुछ थोड़ा ही सा और निवेदन करके इस पंवारे की पूर्त्ति करना चाहता हूं अतएव दो चार मिनट का समय मुझे और देने की उदारता दिखाई जाय।

१५—मुड़िया-लिपि के दोष।

जिस लिपि में उर्दू लिखी जाती है वह अरबी या फारसी-लिपि है। कुछ समय पहले इस लिपि में बड़े बड़े दोष दिखाये जाते थे। उसका मज़ाक़ उड़ाया जाता था और यह कह कर उसका उपहास किया जाता था कि इस लिपि में किश्ती का क़सबी और हिलम का चिलम पढ़ा जा सकता है। एक महाशय ने तो इस विषय की एक पुस्तक तक लिख डाली है। नाम शायद उसका है—उर्दू बेगम। निवेदन यह है कि दोष ढूंढ़ने ही के लिये यदि पैनी बुद्धि का कोई मनुष्य लिपियों की आलोचना करे तो ऐसी लिपि शायद ही कोई निकले जो सर्वथा निर्दोष हो। बात यह है कि प्रत्येक भाषा और प्रत्येक लिपि की प्रकृति जुदा जुदा है; वह अपने ही देशजन्य भावों और शब्दों को अच्छी तरह प्रकट कर सकती है। तथापि वह निर्दोषता का दावा नहीं कर सकती। अपनी जिस देवनागरी-लिपि को हम सब से अच्छी लिपि समझते हैं वह भी तो निर्दोष नहीं मानी जाती। उसकी सदोषता विदेशी ही नहीं, ऐसे स्वदेशी विद्वान् भी दिखाने और उसे दूर करने के उपाय बताने लगे हैं जो उसके उपासक हैं। परन्तु इस बात को जाने दीजिये। विचार इस बात का कीजिये कि

जब हम औरों की लिपि के दोष दिखाने के लिये पुस्तकें तक लिख डालने का श्रम उठाते हैं तब अपनी निज की महाजनी-लिपि की सदोषता की ओर हमारा ध्यान क्यों नहीं जाता? इसका कारण मनुष्य-स्वभाव के सिवा और कुछ नहीं। उसे अपने दोष नहीं दिखाई देते।

महाजनी-लिपि से मेरा अभिप्राय उस लिपि से है जो मुंड़िया कहाती है और जिसकी तूती इस कानपुर नगर के बाज़ार बाजार, महल्ले महल्ले, गली गली और दुकान दुकान बोल रही है। इस लिपि में लिखा गया—**अजमेर गया**—क्या "आज मर गया" नहीं पढ़ा जाता? **कलट्टरगंज**—क्या "कोलटार-गञ्ज" या "कलट्टरी-गाज" नहीं हो जाता? **हालसी रोड** क्या "हलसा रोड़ा" या "हुलसी रांड़" नहीं बन जाता? पर इतनी सदोषता होने पर भी हम लोगों ने कभी उसके परित्याग के लिए न सही, सुधार के लिये भी तो प्रयत्न नहीं किया! यह कोई विदेशी-लिपि नहीं; यह तो देवनागरी-लिपि ही का कटा छंटा अमात्रिक रूप है। भाइयो, दूसरों के दोष देखने के पहले नहीं, तो पीछे ही, अपने दोषों पर नज़र डालिये। कहा जा सकता है कि मात्राओं का झंझट न होने के कारण यह लिपि शीघ्रता से लिखी जाती है। इसी से इसका प्रचार है। यदि यह उज्र ठीक भी हो, तो भी क्या इस इतने सुभीते के लिये इतनी दोषपूर्ण लिपि को आश्रय देना बुद्धिमानी का काम है? यदि देवनागरी-लिपि प्रायः निर्दोष हो, यदि उसको आश्रय देने से मातृभाषा-प्रेम जाग्रत होता हो और यदि उसे अपनाने से जातीयता, देशभक्ति और धार्मिकता की वृद्धि होती हो तो मुंड़िया का स्थान क्या देवनागरी को न दे देना चाहिये? अभ्यास बढ़ने से देवनागरी भी शीघ्रता से लिखी जा सकती है। पर यदि न भी लिखी जा सके तो भी क्या हमें अपनी जातीयलिपि का व्यवहार न करना चाहिए? चीनी और जापानी लिपियों के ज्ञाता कहते हैं कि उनसे बढ़कर दोषपूर्ण और देर में लिखी जानेवाली लिपियां संसार में और नहीं। पर क्या चीनी और जापानी महाजन और व्यवसायी उनका व्यवहार नहीं करते? जिस अरबी-लिपि में तुर्की और फ़ारसी भाषायें लिखी जाती हैं उसका व्यवहार क्या मिश्र, अरब, फ़ारिस, सीरिया, तुर्की और अफ़ग़ानिस्तान के व्यवसायियों ने छोड़ दिया है? अतएव इस सम्मेलन में उपस्थित सज्जन यदि इस विषय में और कुछ न करना चाहें तो इतना ही मान लेने की कृपा कर दें कि मुंड़िया के बदले, धीरे धीरे, देवनागरी-लिपि का प्रयोग करनाही उचित है। लिपि-परिचय हो जाने से हिन्दी-भाषा की अच्छी अच्छी पुस्तकें पढ़ने की ओर प्रवृत्ति हो सकती है। उपन्यास और काव्य पढ़ने से मनोरञ्जन हो सकता है; धार्मिक तुस्तकें पढ़ने से धर्म्म-ज्ञान बढ़ सकता है; समाचारपत्र पढ़ने से विशेषज्ञता प्राप्त हो सकती है, व्यापार-विषयक पुस्तकें पढ़ने से व्यापार-कौशल की वृद्धि हो सकती है।

भाइयो, ज्ञानार्जन का सब से बड़ा साधन पुस्तकें हैं। जो मनुष्य इस साधन से वञ्चित हैं वे इस ज़माने में अपनी यथेष्ट उन्नति कदापि नहीं कर सकते। अब, कहिए, क्या यह साधन केवल मुंड़िया-लिपि जाननेवालों को भी सुलभ है? नहीं है। अतएव इस लिपि का व्यवहार करनेवालों का कर्त्तव्य है कि वे इसके बदले देवनागरी लिपि से काम लें और यदि, किसी कारण से, यह न कर सकें तो अपनी जातीय लिपि, न जानते हों तो, सीख तो ज़रूर ही लें। सन्तोष की बात है कि इस नगर के अनेक महाजन, व्यवसायी और दुकानदार देव-

नागरी-लिपि अच्छी तरह जानते हैं और उससे हार्दिक प्रेम भी रखते हैं। जैसा कि एक जगह पहले मैं निवेदन कर आया हूं। हिन्दी-कवियों को सैकड़ों रुपये पुरस्कार देनेवाले और सम्मेलन के इस अधिवेशन को विशेष सहायता पहुंचानेवाले भी वही हैं।

—०—०—

१६—उर्दू के विषय में विचार।

—:०:—

अभी अभी मैं उस लिपि की सदोषता का उल्लेख कर चुका हूं जिसमें अरबी, फ़ारसी और तुर्की भाषायें लिखी जाती हैं। उर्दू भी उसी में लिखी जाती है। पर उसके दोषपूर्ण होने के कारण हमें उसका उपहास न करना चाहिए और घृणा तो उस से कभी करनी ही न चाहिए। हिन्दू और मुसलमान इस देशरूपी शरीर की दो आंखें हैं। एक आंख के विकृत होने से क्या कोई उसे निकाल बाहर करता है? क्या कोई उससे नफ़रत करता है? इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी ही हमारी जातीय भाषा और देवनागरी ही हमारी जातीय लिपि है अथवा हो सकती है। दिन पर दिन इनके विस्तार की वृद्धि देखकर वे लोग भी इनकी उपयोगिता और देशव्यापक होने की योग्यता के क़ायल होते जा रहे हैं जिनका सम्बन्ध इनसे बहुत दूर का है अथवा है ही नहीं। तथापि, जहां तक हो सके हमें अपने मुसलमान भाइयों की भाषा और लिपि भी सीखनी चाहिए। बिना ऐसा किये पारस्परिक प्रेम, ऐक्य और घनिष्ठता की संस्थापना नहीं हो सकती। जब हम हज़ारों कोस दूर रहने वाले विदेशियों की—अङ्गरेज़, फ्रेन्च और जर्मन लोगों की—भाषायें सीखते हैं तब कोई कारण नहीं कि हम उनकी भाषा और लिपि न सीखें जो हमारे पड़ोसी हैं, जिनका और हमारा भाग्य एक ही सूत्र से बंधा हुआ है और जिन का और हमारा चोली-दामन का साथ है। मेरा तो यह विचार है कि हमें उर्दू, फ़ारसी ही नहीं, हो सके तो अरबी भाषा का भी ज्ञान-सम्पादन करना चाहिए, क्योंकि उसके साहित्य में अनन्त ज्ञान-राशि भरी हुई है और ज्ञान चाहे जहाँ मिलता हो उसकी प्राप्ति प्रयत्नपूर्वक करना ही मनुष्य का कर्तव्य है। परन्तु इससे यह मतलब नहीं कि हम अपनी भाषा और अपनी लिपि सीखने और उसे उन्नत करने के कर्तव्य की अवहेलना करें। नहीं, हमें पहले उनको आयत्त करके तब अन्य भाषायें सीखनी चाहिए। चूंकि हिन्दी ही भारत की व्यापक भाषा हो सकती है और अपने प्रान्तों के निवासियों में अधिक संख्या उसी के ज्ञाताओं की है, इसलिए उस का प्रचार बढ़ाने और सरकारी दफ्तरों में उसी की प्रवेश-प्राप्ति के लिए चेष्टा भी करनी चाहिए।

यद्यपि कुछ मुसलमान भाइयों की प्रवृत्ति हिन्दी भी सीखने की ओर हो रही है—कुछ इने गिने सज्जनों ने तो संस्कृत का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है—तथापि, बड़े खेद की बात है; वे साधारणतः हमारी भाषा और हमारी लिपि की ओर पूर्ववत् ही उदासीन हैं; अधिकांश तो उसके प्रचार और उसकी उन्नति के मार्ग में विघ्न-बाधायें तक उपस्थित करते हैं, विरोध करना तो कुछ बात ही नहीं। परन्तु यदि वे अनुचित पक्षपात छोड़कर, अपने जन-समुदाय और अपने देश के हानिलाभ का विचार करेंगे तो उन्हें ज्ञात हो जायगा कि इस विषय में उनकी उदासीनता और उनका विरोधभाव हम दोनों ही के हित का विघातक है। वे अपनी लिपि और जिसे वे अपनी भाषा कहते हैं उस की उन्नति खुशी से करें; पर साथ ही हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को भी यथाशक्ति सीखना उन्हें अपना कर्तव्य समझना चाहिए। सैकड़ों साल से लाखों हिन्दू उर्दू ही नहीं, फ़ारसी तक पढ़ते और लिखते चले आ रहे हैं और अब

भी पढ़ते लिखते हैं। इस दशा में क्या उनका भी यह कर्तव्य न होना चाहिए कि वे हमारी भाषा और हमारी लिपि सीखें ? यदि वे अभाग्य वश, अपने इस कर्तव्य-पालन से पराङ्मुख रहने ही में अपना कल्याण समझें तो भी हमें उन की लिपि का परित्याग न करना चाहिए। उस से घृणा तो कदापि करनी ही न चाहिए। उन की उर्दू कोई जुदा भाषा नहीं। वह भी हिन्दी ही है। यदि कुछ अन्तर है तो केवल इतना ही कि उस में अरबी, फ़ारसी के शब्दों का संमिश्रण कहीं कम और कहीं अधिक रहता है। बस, और कुछ नहीं।

---

१७ रोमन-लिपि के भावी आक्रमण से भय।

—:o:—

जिस फ़ारसी-लिपि में उर्दू लिखी जाती है वह और देवनागरी लिपि इस देश में सैकड़ों वर्षों से प्रचलित हैं और जब तक हिन्दुओं और मुसलमानों का अस्तित्व है तब तक शायद प्रचलित रहेंगी। उनके पक्षपातियों में पारस्परिक विरोध न होना चाहिए और यदि दुर्दैववश हो भी जाय तो उस से विशेष भय नहीं। भय एक और ही लिपि के आक्रमण से है और दोनों ही को है—हिन्दुओं को भी और मुसलमानों को भी। इस आक्रमण का सूत्रपात भी हो गया है। यह लिपि रोमन-लिपि है।

जिस तरह हमारे वर्ण-विभाग, हमारे जाति-भेद, हमारे आचार-विचार आदि में कुछ लोगों को—और इन लोगों में हमारे दो चार स्वदेशी सपूत भी शामिल हैं—दोष ही दोष देख पड़ते हैं वैसे ही उन्हें हमारी देवनागरी-लिपि में भी दोष ही दोष देख पड़ते हैं, गुण एक भी नहीं। वे कहते हैं कि हमारी लिपि किसी काम की नहीं। वह सुडौल और सुन्दर नहीं, वह जगह बहुत घेरती है, वह शीघ्रतापूर्वक लिखी नहीं जाती। उसमें अक्षरों की अनावश्यक अधिकता है। ह्रस्व-दीर्घ की, संयुक्ताक्षरों की, षत्व और णत्व की जटिलता के कारण वह और भी क्लिष्ट हो गई है। फल यह हुआ है कि छोटे छोटे बच्चों को उसे सीखने में बहुत कष्ट मिलता है, महीनों का काम वर्षों में होता है, शिक्षा-सम्पादन में बहुत विघ्न आता है। यदि उस का बहिष्कार कर दिया जाय और उसकी जगह रोमन-लिपि को दे दी जाय तो सारी मुसीबतें हल हो जायं। उन उदारहृदयों और परदुःखकातरों की दलीलों की असारता एक नहीं अनेक बार खोल कर दिखाई जा चुकी है और इनकी प्रत्येक युक्ति का खण्डन किया जा चुका है। पर हम लोगों के ये अकारण-हिताकांक्षी फिर भी अपना राग अलापना बन्द नहीं करते। अब इनके इस अलाप की ध्वनि बङ्गाल की गवर्नमेंट के कानों तक भी पहुंची है और उसने इन्हें दाद देने का भी विचार किया है।

कुछ दिन हुए, कलकत्ता-गज़ट में एक मन्तव्य प्रकाशित करके बङ्गाल की गवर्नमेंट ने बङ्गवासियों से पूछा है कि तुम्हारे सदोष बङ्गाक्षरों का बहिष्कार करके यदि प्रारम्भिक पाठशालाओं में रोमन-अक्षरों का प्रचार कर दिया जाय तो तुम्हें कोई एतराज़ तो न होगा। इस पर वे लोग क्या कहेंगे या क्या राय देंगे, इस बात को जाने दीजिए। विचार केवल इस बात का कीजिए कि बङ्गाक्षरों की उत्पत्ति देवनागरीही अक्षरों से है। जब उन पर रोमन लिपि के आक्रमण का सूत्रपात हो रहा है तब देवनागरी-लिपि भी कब तक अपनी ख़ैर मना सकेगी और फारसी-लिपि भी क्या उसके आक्रमण से बच सकेगी ? इसी से मेरा निवेदन है कि इन दोनों ही लिपियों को रोमन के आक्रमण से एक सा भय है।

इस चढ़ाई का समाचार सुन कर हमें

सजग हो जाना चाहिए और भावी भय से अपनी जातीय लिपि को बचाने का उपाय यथाशक्ति करना चाहिए । सरकार तो एक हिसाब से रोमन-लिपि को अपना थोड़ा बहुत आश्रय दे भी चुकी है । पर उसकी ख़बर हम लोगों में से बहुतों को शायद न होगी । देशी फ़ौजों के लिए क़वायद परेड वग़ैरह का जो पुस्तकें प्रकाशित होती हैं उनमें से कुछ पुस्तकें रोमन-लिपि में भी छपती हैं। अब यदि यह बात यहीं तक रहे तो भी ग़नीमत समझिए । अंगरेज़ी भाषा ने अपने देश की भाषाओं को बहुत कुछ दबा ही लिया है । यदि रोमन-लिपि हमारी लिपियों पर भी आक्रमण करके प्रारम्भिक पाठशालाओं में पहुंच जायगी तो रोग असाध्य नहीं, तो कष्टसाध्य ज़रूर हो जायगा । भगवान् न करे कभी ऐसा दिन आवे ; पर यदि दुर्भाग्य से आ ही जाय तो हमारी और हमारी जातीयता की अपरिमेय हानि हो जायगी । अतएव हमें अभी से सावधान हो जाना चाहिए और प्रतिकार का उद्योग करना चाहिए ।

———

१८—उपसंहार ।

—:०:—

हिन्दी की उन्नति के लिए अभी बहुत कुछ करने की आवश्यकता है । सच तो यह है कि उसके उन्नति-सम्बन्धी कार्य की सीमाही नहीं ; वह तो निःसीम है । क्योंकि ऐसा समय कभी आनेही का नहीं जब यह कहा जा सके कि हिन्दी-साहित्य उन्नति की चरम सीमा को पहुंच गया ; और अधिक उन्नति के लिए अब जगहही नहीं । बात यह है कि ज्ञान अनन्त है । उसकी पूर्णता को प्राप्त कर लेना क्षुद्र मनुष्य के बुद्धि-वैभव और पहुंच की मर्यादा के बाहर है । तथापि मनुष्य श्रम, खोज, अनुभव, अध्ययन और चिन्तन के द्वारा ज्ञान का उपार्जन, दिन पर दिन, अधिकाधिक कर सकता है । संसार की समस्त भाषाओं में आज तक ज्ञान का जितना संचय हुआ है, वह इसी तरह धीरे धीरे हुआ है । यदि यह समस्त ज्ञान-राशि हिन्दी-भाषा के साहित्य में भर दी जाय तो भी भावी ज्ञानार्जन के सन्निवेश की आवश्यकता बनी ही रहेगी । इस दशा में हिन्दीही के नहीं, किसी भी भाषा के साहित्य की उन्नति का काम प्रलय-पर्य्यन्त बराबर जारी रह सकता है । ज्ञानार्जन की इस अनन्त मर्यादा की ओर बढ़ने के बड़े बड़े काम बड़े बड़े ज्ञानियों, विज्ञानियों, ग्रन्थकारों और साहित्य-सेवियों को करने दीजिए । वह काम उन्हीं का है । पर साथ ही, परिमित विद्या, बुद्धि, योग्यता और शक्ति के आधार, साधारण जनों का भी तो कुछ कर्तव्य होना चाहिए । अपनी मातृभाषा का जो ऋण उन पर है उससे उद्धार होने के लिए उन्हें भी तो कुछ करना चाहिए ।

अच्छा, तो आइए हम जैसे परिमित-शक्तिशाली जन यह प्रण करें कि आज से हम अपने कुटुम्बियों, अपने मित्रों और इतर ऐसे लोगों के साथ जो हिन्दी लिख-पढ़ सकते हैं, बिना विशेष कारण के, कभी किसी अन्य भाषा में पत्र-व्यवहार न करेंगे और बातचीत में कभी बीच बीच, अंगरेज़ी, भाषा के शब्दों का अकारण प्रयोग करके अपनी भाषा को न बिगाड़ेंगे—उसे वर्णसङ्करी, उसे दोग़ली, न बनावेंगे । कितने परिताप और कितनी लज्जा की बात है कि पिता अपने पुत्र को, भाई अपने भाई को, चचा अपने भतीजे को और मित्र अपने ही देशवासी, अपनेही प्रान्तवासी, अपनेही नगरवासी मित्र को अपनी मातृभाषा में पत्र न लिख

कर, किसी विदेशी भाषा में पत्र लिखे। ऐसा अस्वाभाविक दृश्य, इस अभागे भारत को छोड़ कर, धरातल पर क्या किसी और भी देश में देखा जाता है ? क्या कभी कोई जापानी अन्य जापानी को अंगरेज़ी भाषा में अथवा क्या कभी कोई अंगरेज़ किसी अन्य अंगरेज़ को रूसी, तुर्की या फ्रांस की भाषा में पत्र लिखकर अपने विचार प्रकट करता है ? अनुन्नत होने पर भी क्या अपनी हिन्दी-भाषा इतनी दरिद्र है कि सब प्रकार के साधारण विचार प्रकट करने के लिए उसमें यथेष्ट शब्द-सामग्रीही नहीं ? यदि यह बात नहीं तो फिर क्यों हम हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी बोलते समय, बीच बीच में, अंगरेज़ी-भाषा के शब्दों का प्रयोग करें और क्यों घरेलू पत्र-व्यवहार में भी उसी भाषा का मुंह ताकें ? आफ़रीका के असभ्य हबशियों तक के समस्त जीवन-व्यापार जब उन्हीं की नितान्त समृद्धिहीन बोलियों और भाषाओं से चल सकते हैं तब क्या हमारी भाषा उनसे भी अधिक कंगालिनी है जो हम उससे काम नहीं लेते ? यह और कुछ नहीं। यह केवल हमारे अज्ञान, हमारे अविवेक, हमारी अदूरदर्शिता का विजृम्भण है। यदि हममें आत्मगौरव की, यदि हममें स्वदेश-प्रेम की, यदि हममें मातृभाषाभक्ति की यथेष्ट मात्रा विद्यमान होती तो ऐसे अस्वाभाविक व्यापार से हम सदा दूर रहते। यदि हम चाहते हों कि हमारा कल्याण हो तो अब हमें अपनी इस बुरी आदत को एकदम ही छोड़ देना चाहिये।

मेरा यह कदापि मतलब नहीं कि आप विदेशी भाषायें न सीखिए। विदेशी भाषाओं के द्वारा अपने विचार न प्रकट कीजिए; विदेशी भाषाओं में पत्र न लिखिए। अंगरेज़ी ही नहीं, आप अरबी, फ़ारसी, तुर्की, फ्रेञ्च, जर्मन, लैटिन, ग्रीक और हेब्रू आदि, ज़िन्दा या मुर्दा, जितनी भाषायें चाहें सीख कर उनमें निबद्ध ज्ञान-राशि का अर्जन कीजिए। जो लोग अपनी भाषा नहीं जानते उनसे, आवश्यकता पड़ने पर, उन्हीं की भाषा में बातचीत भी कीजिए और उन्हीं की भाषा में पत्र-व्यवहार भी। अपना रोब दिखाने और योग्यता या प्रभुता की धाक जमाने के लिए भी, यदि आप से रहाही न जाय तो क्षण भर, अंगरेज़ी या अन्य विदेशी भाषाओं में अपने मानसिक विचार प्रकट कीजिए। पर, परमेश्वर के लिए— अपने और अपने देश के हित के लिए— बोलचाल में, अपनी भाषा के पावन क्षेत्र में, वर्ण-साङ्कर्य्य का अपावन बीज न बोइए और अपने आत्मीयों आदि के साथ, अकारण ही, विदेशी भाषाओं में पत्रव्यवहार न कीजिए। अपनी मातृभाषा के सम्बन्ध के इस इतने भी कर्त्तव्य का पालन यदि हम न करेंगे तो मुझे खेद के साथ यही कहना पड़ेगा कि उस अभागिनी की उन्नति की अभी विशेष आशा नहीं — अथवा मिस्टर मांटेगू और लार्ड हार्डिङ्ग के द्वारा उद्धृत की गई फ़ारसी की पुरानी मसल के अनुसार "हनोज़ देहली दूरस्त"।

१९—अपनी व्यक्तिगत अन्तिम प्रार्थना।

अब आप मुझे अपनी व्यक्तिगत अन्तिम प्रार्थना के लिए क्षमा प्रदान करें।

इस वक्तव्य के आरम्भ में मैं आपकी मानसिक पूजा कर चुका हूं। पूजान्त में साधक अपने इष्टदेव से कुछ माँगता भी है— वह अपनी अभिलषित आकाङ्क्षा की पूर्ति के लिए कुछ

प्रार्थना भी करता है। पूजा के इस अङ्ग का उल्लेख करना मैं वहां भूल गया हूं। उस भूल की मार्जना कर डालने की अनुमति, अब मैं अन्त में, आप से चाहता हूं। मुझ अपुण्य-कर्म्मा ने अपनी आयु के कोई ६० वर्ष अधिकतर तिल, तण्डुल, लवण और इन्धनही की चिन्ता में विता दिये। अपनी मातृभाषा हिन्दी की उन्नति के लिए जो जो काम करने का संकल्प मैंने किया था वे सब मैं नहीं कर सका। यह जन्म तो मेरा अब गया। आप उदारता और दयालुतापूर्वक मेरे लिए परमात्मा से अब यह प्रार्थना कर दीजिए कि जन्मान्तर में ही वह किसी तरह वे काम कर सकने का सामर्थ्य मुझे दे। वह मुझ पर ऐसी कृपा करे कि मेरे हृदय में मातृभाषा का आदर सदा बना ही न रहे, वह बढ़ता भी रहे और जिस भाषा में मेरी मां ने मुझे अम्मा और बप्पा कहना सिखाया था उसी में हरि-हरि-स्मरण करते हुए—

प्राणाः प्रयान्तु मम नाथ तव प्रसादात्

इतना कह कर अब मैं सहर्ष यह प्रस्ताव करता हूं कि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन एम० ए०, एल० एल० बी० इस सभा के सभापति का आसन ग्रहण करें। आपकी आत्मा बड़ी उच्च है; आप प्रान्त के ही नहीं, देश भर के मान्य हैं। आप को मातृभाषा की बड़ी ममता है और सम्मेलन के जन्म से सदैव इस के आप कर्णधार रहे हैं। यदि आप का नेत्रित्व न होता तो सम्मेलन यह सब काम जो उसने इस अल्पकाल में किया है न कर सकता। टण्डन जी के आत्मोत्सर्ग का हमें अभिमान है, आप की दिव्यता, सहिष्णुता, सहायता और हिन्दुस्तान की सेवा का हमें अभिमान है। आप का साहित्यप्रेम बड़ी उच्च कोटि का है। आशा है कि ऐसे योग्य व्यक्ति को सभापति के आसन पर पाकर यह सम्मेलन कृतकृत्य होगा"।

प्रस्ताव का समर्थन करते हुए श्री पण्डित गोविन्दनारायण जी ने कहा—

"मातृ भाषा हिन्दी के सुयोग्य सपूतो और पण्डित बन्धुओ! बड़े आनन्द का विषय है कि हमारे मित्र पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन को सभापति के आसन पर वरण करने का प्रस्ताव किया और उस के अनुमोदन का भार मुझ पर आया। आज हमारा यह हिन्दी साहित्य सम्मेलन १२ वर्ष समाप्त कर के १३ वें वर्ष में पदार्पण कर रहा है। भारतवर्ष की जैसी दशा है उस में एक संस्था का इतने दिनों तक जीवित रह कर काम करना परम सौभाग्य का विषय है। इसमें सभापति की आत्मा पुरुषार्थी नहीं होती, निस्स्वार्थ रूप से काम करनेवाला जब तक नहीं होता तब तक काम नहीं हो सकता। आज हम टण्डन जी को सभापति के आसन पर सुशोभित करना चाहते हैं। वह इसलिए नहीं कि वह तुलसीदास या सूरदास के समान कवि हैं, अथवा देव या विहारी के समान प्रतिभा-प्रकाशवाले व्यक्त हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि जितने सभापति अब तक हुए हैं उनमें दो बातों का विचार रहा है— एक तो वह हैं जो अपने अध्यवसाय और निस्स्वार्थ सेवा से हिन्दी साहित्य के पथ को जो कण्टकाकीर्ण था सुगम बनानेवाले हुए हैं। ऐसे महानुभावों में हमारे मनोनीत सभापति अग्रगण्य हैं। इस के अतिरिक्त आप की साहित्य-रुचि कुछ कम नहीं है। साहित्य का कोई बड़ा लेखक होना या व्याख्या करना ही साहित्य-प्रेम नहीं है।

ऐसा करना तो अतिव्याप्ति होती है क्योंकि साहित्य जो पदार्थ है उसकी आत्मा रस है। रस को हिन्दी में साहित्य का एक अङ्ग माना है। जिस में रस की सुरसता है वहीं ईश्वर है। ऐसा वेद ने कहा है—"रसोवैसः"। यह रस सात्विक वृत्ति का उद्रेक है। आप परम सात्विक व्यक्ति हैं। आपने सब से पहले काशी में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सूत्रपात किया था और उन के साथ ही बाबू श्याम-सुन्दर दास का नाम सूत्रपात करनेवालों में है। सभापति श्री इस के श्री पंडित मदनमोहन मालवीय हुए थे जो देश प्रसिद्ध हैं और जिन्हें आबाल वृद्ध वनिता सभी जानती हैं। इन में कोई रामचन्द्र, कृष्ण कोई शंकर हैं—सभी ईश्वर के नाम हैं। "मनुष्याणां" हज़ारों में से कोई एक धार्मिक होता है। शास्त्र सब पढ़ते हैं। ऐसे स्थान का नेत्रित्व ग्रहण करनेवालों में जैसे हमारे बाबू पुरुषोत्तमदास हैं, जो खोजने से भी नहीं मिलेंगे। मैं समझता हूं नाम भी आप का पुरुषोत्तम दास है। इसलिए आज जो इनको इस स्थान पर सुशोभित किया वह परम सौभाग्य का विषय है। और इस के पोषक का भार मेरे ऊपर आया इसलिए मैं पुलकित हूं—ईश्वर करे आप सब प्रकार इस की सेवा करें।

दूसरा आनन्द यह है कि हमारे परम मित्र द्विवेदी जी ने बहुत दिनों के बाद ऐसा रोचक विषय सुनाया—अपना मौन भङ्ग कर के इस प्रकार का उपयोगी भाषण किया। इसमें कितने ही विषय विचारणीय हैं। यदि समय मिला तो उन की आलोचना आप को सुनाऊंगा। इसलिये आज यहीं शेष करता हूं, किन्तु यह बात बराबर चली आई है कि "शत्रोरपिगुणाः" काव्य के दोष को निर्दोष करना चाहिये—गुण को ग्रहण करना चाहिए, अवगुण को त्याग देना चाहिए। शब्दों की शक्ति यह है कि भाव को बदल सकते हैं—काव्य में और भी शक्ति है, इसीलिए राजाओं के यहां कवि थे। जैसे पृथ्वीराज के यहां चन्द और शिवा जी के यहां भूषण। यहां इस सम्बन्ध में अधिक समय न लूंगा। जो विषय आया तो इसकी आलोचना फिर भी की जायगी" तदनन्तर बाबू श्याम-सुन्दरदास ने कहा—"जो प्रस्ताव पंडित महा-वीरप्रसाद द्विवेदी जी ने किया है मैं उसका समर्थन करता हूं। पुरुषोत्तमदास जी के विषय में विशेष कहने अथवा उनका परिचय देने की आवश्यकता नहीं। बाबू पुरुषोत्तमदास जी इस थोड़े से काल में जिस में मैंने उनको जाना है बराबर इस प्रान्त में अपनी सेवा से देश की उन्नति और अख़बारों से उसे भर रहे हैं। अपने साहस, उत्साह और दृढ़ता से आप मेरे ही नहीं सब के प्रिय हैं—आप से सब प्रसन्न हैं। इसलिए उन के विषय में कुछ और न कह कर इस प्रस्ताव का अनुमोदन करता हूं और आग्रह करता हूं कि आप ने १२ वर्ष की सेवा से जो अनुभव प्राप्त किया है उसे सुना कर हम लोगों को कृतकृत्य करें। इसलिए अपने को और आप लोगों को भी उत्सुक देख कर कुछ अधिक न कह कर प्रस्ताव का अनुमोदन करता हूं"। इस के पीछे श्री पंडित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदीजी ने कहा—"उपस्थित महाशय और प्रिय बन्धु, आज मेरे लिये आन-न्द का अवसर है कि जो सभापतित्व का भार मेरे कमज़ोर कन्धों पर था उसे आज बाबू पुरुषोत्तमदास के कष्टसहिष्णु, कोमल और कमनीय कन्धों पर रखता हूं। वह मेरी अपेक्षा यह काम, मुझे पूर्ण विश्वास है बहुत अच्छी तरह करेंगे। खुशी इसी बात की है कि जगन्नाथ और पुरुषोत्तम एक ही हैं. (हंसी ध्वनि)। यद्यपि वह उम्र में हम से कम हैं परन्तु "वृद्धत्वं जरसा विना" इन में सिद्ध है (हंसी ध्वनि)। दूसरी बात यह है कि वह

सभापति हों ऐसा आवश्यक भी है क्योंकि जब महावीर हैं तो पुरुषोत्तम राम को होना ही चाहिये (हर्ष ध्वनि) । और कौशिक भी हैं इसलिए यह सब समाज ही एकत्रित है (हंसी ध्वनि) । इसलिए मैं बड़े हर्ष से यह भार उन के सुपुर्द करता हूं — हां एक बात भूल गया था—आप का नाम पुरुषोत्तम दास 'टण्डन' है । आप सब काम निश्चित समय पर कर डालते हैं । इसलिए जब घड़ी की आवाज़ हुई 'टन' तो इनका काम हुआ "डन" (बड़ी हंसी ध्वनि) । श्री पंडित गिरिधर शर्मा ने कहा — "मान्य सज्जनो, सभापति का प्रस्ताव हुआ और उसका समर्थन भी हुआ । मैं भी यह कहता हूं कि वही सभापति का आसन ग्रहण करें । आज सम्मेलन ने एक युग पूरा किया क्योंकि १२ वर्ष का भी एक युग होता है । जो अब तक आप ने पूर्व युग के मन्त्री रूप से काम किया है तो यह भार भी आप को ही देना चाहिये और फिर भी जब आपने इसे रोपा है तो अब नवीन युग में फलोपभोग रूप से सफल करने के लिये यह भार भी ग्रहण करें । दूसरी बात यह है कि कुछ काल से आप भारत सरकार के दयापात्र होकर कुछ महानुभावों के साथ जेल गये थे तो आज़ादी से इतने दिनों के बाद अब आप फिर कार्य में आये और काम करें यही हमारा मत है" । इस के पश्चात् श्री लतीफ़ हुसेन ने कहा—"जिस प्रस्ताव का अनुमोदन इतने लोगों ने किया है उसके लिए मेरा कुछ कहना बड़ी बात नहीं है । तो भी इतना कहना चाहता हूं कि आप सर्वथा इसके लिए उपयुक्त हैं । जो सेवा आपने की जिस से आप को ख्याति है उसके विचार से आपके सम्बन्ध में कुछ भी कहना सूरज को दीपक दिखाना है । मैं इसका अनुमोदन करता हूं" । पुनः श्री माखनलाल जी चतुर्वेदी ने कहा—"मुझे आज्ञा मिली है कि अनुमोदन करूं — मैं तो समझता हूं कि सब से पहले स्वराज्य की घोषणा करनेवाले यही हैं और इस युग के अन्त में यह स्थान उनको दिया देखकर मुझे हर्ष है इसलिये मैं इस प्रस्ताव का समर्थन करता हूं । आजकल यह देखा जाता है कि सैकड़ों और हजारों पुस्तकें निकल रही हैं परन्तु उनमें रामायण कै हैं ? आप जानते हैं आज हजारों लेखक हैं परन्तु उनका वह प्रभाव नहीं जो व्यास और वाल्मीकि का है क्योंकि उनकी मनोवृत्ति वैसी ऊंची नहीं है कि उनका आदर्श मानें । परन्तु टण्डन जी में वह चरित्र है कि उनका कोई शब्द व्यर्थ न जायेगा । सचमुच यह सम्मेलन नवीन युग में इस बात का अनुभव करेगा" । इसके पश्चात रामलाल शर्मा ने कहा—

"प्यारे भाइयो, मैं इस प्रस्ताव का अनुमोदन करता हूं । मैं नहीं समझता कि इसकी कोई ज़रूरत थी और मैं समझता हूं कि चन्द लफ़्ज़ों में एक दो बात मैं आपके सामने रख दूंगा जो मौक़े के मुताबिक़ होंगी । वह यह है कि जब राष्ट्र राजनैतिक जोश में है हमारे अधिक राष्ट्रीय भाई मुसलमान हैं । जिस तरीक़े पर उसमें आपस में हिन्दू मुसलमानों के मेल से रहकर काम करने को बतलाया गया है उसकी अमली कार्रवाई यह है कि हम सब से प्रेम करें— क्या हिन्दी क्या उर्दू । हिन्दी और देवनागरी का प्रेम है—राष्ट्र भाषा हिन्दी है तो लिपि देवनागरी होनी चाहिये । आप राजनैतिक क्षेत्र में काम करनेवाले हैं इसलिये हिन्दी के लिये जो दुःख है उसको उनसे अधिक योग्यता से कौन समझेगा । इसलिये मैं बड़े प्रेम से इस प्रस्ताव का सहर्ष अनुमोदन करता हूं कि टण्डन जी सभापति का आसन ग्रहण करें" । प्रस्ताव के पास होने पर सभापति ने अपना लिखित भाषण पढ़ा और इसी के साथ आज का कार्य सम्पादन हुआ ।

सभापति का भाषण।

स्वागत समिति के सभापति महोदय, सम्मेलन के प्रतिनिधि बन्धु, देवियां और अन्य सज्जनो—

नम्र निवेदन

आपको धन्यवाद देने के लिये मेरे पास शब्दावली नहीं है। मैं आपकी दया का पात्र हूं। जिस प्रकार छोटा बालक गुरुजनों से प्रेमपूर्वक विनोदार्थ उच्च स्थान पर बैठाए जाने पर भयभीत होता है, वैसे ही मैं भयभीत हो रहा हूं। आप ने तो अपने प्रेम से मुझे यहां ला बिठाला, किन्तु अपनी सामर्थ्यहीनता का अनुभव कर मैं घबरा रहा हूं और आपकी रक्षा का इच्छुक हूं। सच जानिए, यह बात मैं साधारण शिष्टजनों के प्रथानुसार केवल नम्रता निदर्शित करने के लिए नहीं कहता, किन्तु अपनी वास्तविक दशा का अनुभव कर रहा हूं। इस विज्ञ-समुदाय के नभोमण्डल में प्रज्वलित और कान्तिमय ताराओं और नक्षत्रों के समक्ष मेरी बाल-बुद्धि क्रीड़ा करने का साहस नहीं करती। चौदह महीने तक सभा, समाज और साहित्य से दूर ब्रिटिश सरकार के संकीर्ण निवासस्थान में प्रवासित रहने के बाद जब मैं छूट कर आया और उसके थोड़ेही दिनों पीछे मुझे इस सम्मेलन के सभापति चुने जाने की सूचना मिली, उसी समय मैंने इस पद के लिए अपनी अयोग्यता का अनुभव कर न केवल पत्र लिखकर क्षमा मांगी, किन्तु कई कानपुर के मित्रों से, जिन से मैं सहायता की कुछ आशा रख सकता था, अपने असामर्थ्य का प्रकाश कर इस कठिन भार से बचाए जाने का निवेदन किया। मेरा निवेदन प्रबल कारणों से परिपुष्ट था। एक तो यों ही मैं साहित्य का पण्डित नहीं, मेरे साहित्य-ज्ञान के खाते में एक कृति भी जमा नहीं जिसका कुछ भी मूल्य हो। दूसरे जो कुछ साहित्य-प्रेम और साहित्य-अध्ययन की थोड़ी पूंजी किसी समय मेरे पल्ले थी भी, वह भी कई वर्षों से राजनीति के नाम पड़ती गई और अन्त में चौदह महीने का साहित्य-प्रवासन जो मेरे नाम पड़ा उसने मुझे सर्वथा दिवालिया बना दिया। ऐसी हीन दशा में वाक्-श्री-सम्पन्न गुणाढ्यों के योग्य इस पद को अङ्गीकार करने में हिचकिचाना स्वाभाविक ही था। फिर मुझे यह भी तो आशा नहीं थी कि पूर्वसञ्चित पूंजी न सही, कुछ शेष समय में मांग जांच कर अथवा इस वसन्त ऋतु में कुसुमित दूसरों की ही लहलहाती वाटिकाओं अथवा प्राकृतिक वनवीथियों में से ही कुछ स्वादिष्ट और सुगन्धित फल फूल ले आप के सत्कार करने का संभरण कर सकूंगा। मैं तो जानता था कि मुझे इस प्राकृतिक सम्पत्ति के उद्गार और उत्सर्ग के समय भी दरिद्र ही रहना पड़ेगा। वन बाग की हरियाली छटा, अधखिले फूलों की मुसक्यान, प्रौढ़ पुष्पों के पराग की सुरभित सम्पत्ति और भ्रमरवृन्द की दैवी तान के स्थान में मुझे तो नगर की गरदीली गलियां, अधखुली नालियों की भयङ्कर चेष्टा, खुले बाज़ारों में मनुष्यों और पशुओं की रेलठेल से कम्पित आकाश मण्डित-रज और म्युनिसिपल चुनाव में वोट मांगनेवालों का आर्त्तनाद बदा था। मैंने अनुभव कर लिया था कि जिन उद्दीपक विभावों के आप रसिक हैं

उनको संग्रह और संचार करना मेरे प्रयास के बाहर होगा। कहां आप गद्य पद्य और चम्पू की त्रिविध समीर में कचनार की पतली प्यारी आभूषित अंगुलियों के संकेत पर नाचने वाले, काव्य के मुकुलित महुये के रसपान से मस्त, सुगन्धित बौरों से लदी हुई साहित्य की रसाल-कुञ्जों में केलि करनेवाले प्रवीण भ्रमर और कहां राजनीति की कीच में सना भुनगा मैं! इसीलिये निश्चित रूप से अपने को सब प्रकार से अयोग्य जान इस दायित्व-पूर्ण पद के प्रकार को देख कम्पित था। किन्तु स्वागत-समिति से मेरी चलने न पाई। गणेश से सरल और शङ्कर से तीव्र आज मेरे मित्र गणेशशङ्कर जी कानपुर में होते तो उन की रक्षा का मुझे पूरा लाभ मिलता, किन्तु जिनकी शक्ति के संकेत से यह समारोह यहां संघटित है और जिनका ही आत्मिक आकर्षण मुझे भी यहां बरबस खींच लाया, आज मेरे दुर्भाग्य से वही यहां नहीं हैं। अपने तप से वह तो देश के उद्धार का समय निकट ही कर रहे हैं, किन्तु उनकी अनुपस्थिति मुझ दुर्बल हृदयवाले को खल रही है। ऐसी अवस्था में मेरी अपील आप से ही है कि आप मेरी रक्षा कीजिये।

शोक स्मृति।

इस के पहिले कि मैं कुछ आगे कहूं मेरा कर्त्तव्य है कि मातृ-भाषा के उन वीर्यवान् सुपुत्रों का स्मरण करूं जिनका इस वर्ष हम से विछोह हो गया है। सब से पहिले आप के और हमारे हृदय में प्रेमघन जी की पूजनीय मूर्त्ति आ विराजती है। प्रेमघन जी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उस ज्योतिर्मय मण्डल के एक दीप्यमान नक्षत्र थे जिसने हिन्दी के आधुनिक रूप का निर्माण किया और जिस के अन्य प्रज्वलित तारागणों में मेरे भाषा-गुरु प्रातःस्मरणीय बालकृष्ण भट्ट और श्रद्धेय स्वनाम-धन्य अम्बिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र, सुधाकर द्विवेदी, तोताराम काशीप्रसाद, श्री निवासदास, राधाचरण गोस्वामी ऐसे नाम आज भी संवत् २० से ४० तक के नवीन युगारम्भ के समय की याद दिलाते हैं। हर्ष की बात है कि आज भी उस प्रतिभान्वित समय के अवशेष-स्वरूप एक सुन्दर और प्रौढ़ स्तम्भ गोस्वामी राधाचरण जी वर्तमान सन्तान को अपना कर्तव्य-पथ दिखाने के लिए विद्यमान हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि वह गोस्वामी जी को अभी बहुत वर्षों तक हम लोगों के उपकारार्थ इस संसार में रहने का अवकाश दे।

इसके बाद अपने प्रिय मित्र पं० चन्द्रधर गुलेरी और उन के लघु भ्राता सोमदेव जी की शोक-मय चर्चा करनी पड़ती है। चन्द्रधर जी संस्कृत और हिन्दी के प्रचण्ड विद्वान् थे। इस का कुछ पता उन के गवेषणापूर्ण लेखों से चलता है। मुझको लगभग १८ वर्षों से उनको जानने का सौभाग्य प्राप्त था। इसलिए मैं कह सकता हूं कि उनके हृदय में हिन्दी भाषा के प्रति कितना अनुराग था और उनकी कितनी उत्कट इच्छा रहती थी कि हिन्दी का आधुनिक साहित्य सर्वाङ्ग सुन्दर होकर संसार के उच्च से उच्च कोटि के साहित्य से समानता करे। उन के छोटे भाई भी हिन्दी के सुलेखक थे। इतनी कम अवस्था में इन प्रतिभावान् भाइयों का संसार से उठ जाना हम सबों का ही दुर्भाग्य है।

पण्डित रामेश्वर भट्ट के नाम से भी आप सभी परिचित हैं। कदाचित् ही किसी हिन्दी प्रेमी ने उनकी रामायण की टीका न देखी हो। इस समय तो हिन्दी पाठकों के सौभाग्य से रामायण की कई टीकाएं प्राप्त हैं और मैंने सुना है कि और टीकाएं भी तैयार हो रही हैं, विशेषकर पण्डित विनायकरावजी

अपनी विनायकी टीका लिखकर तुलसीकृत रामायण का पठन पाठन अधिक रोचक और साहित्यिक बना दिया है, किन्तु जिस समय ये नवीन टीकाएं नहीं थीं, पण्डित रामेश्वर भट्ट की टीका ने रामायण के प्रचार में बहुत वर्षों तक सहायता की। विनयपत्रिका की भी टीका कर भट्टजी ने तुलसीदासजी के इस काव्य रत्न की आभा का साधारण पाठकों में प्रचार कर हिन्दी की अच्छी सेवा की है।

भाषा की उत्पत्ति का रहस्य।

जिस भाग्यवान् को आप सम्मेलन के सर्वोच्च आसन पर बैठाते हैं उससे आप साधारणतया आशा रखते हैं कि वह हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में प्रतिभा-सम्पन्न अथवा पाण्डित्यपूर्ण लेख आपके सामने प्रस्तुत करे! मैंने पहिले ही आपकी रक्षा की भिक्षा मांगी है; वह इसीलिए कि मैं आपकी आशा पूरी नहीं कर सकूंगा। तो भी सम्मेलन के एक अल्प सेवक के नाते मैं अपने बिखरे हुए विचार आपके सामने उपस्थित करता हूं।

हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, किस वाणी के महास्रोत से उसकी धारा बहती हुई हम तक आयी, मार्ग में किन पर्वतों और वनों के प्राकृतिक रत्नों को अपने साथ लेती और कहां कहां उनको छितराती आयी है, अथवा किस प्रकार से उसने अपने निर्मल जल से कूलों पर कुंजलताएँ पोषित कर और उन कूलों के निवासियों को अपने पवित्र जल से मानसिक जीवनदान दे उन्हें सभ्य बनाया है, इसकी चर्चा आपको कतिपय खोज सम्बन्धी ग्रन्थों में और सम्मेलन के कुछ मेरे पूर्ववर्ती सभापतियोंके भाषणों में मिलेगी। यह विषय जितना रोचक है उतना ही गंभीर है। आर्यों का आदिम स्थान कौन था, आर्यों का आदिम स्थान क्या भारतवर्ष के बाहर था, क्या उसी स्थान से उनकी कई शाखाएँ पूर्व और पश्चिम की ओर निकल कर फैलीं, और वह जहां जहां गये अपने साथ अपने आदिम स्थान की प्राचीन आर्यभाषा लेते गये, जिसके ही कारण यूरोप की भाषाओं— जैसे यूनानी, लैटिन, अंग्रेज़ी, फ्रेञ्च, जर्मनी—में भी आज हमारे देश के कुछ आदि शब्दों से समानता दिखायी पड़ती है, अथवा क्या भारतवर्ष से ही सभ्यता और भाषा की लहर पश्चिमीय देशों में गयी— इस विषय पर इतिहास और भाषा के उच्च कोटि के पण्डित पिछले लगभग १०० वर्षों से विचार करते आये हैं, और अब भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन विचारों का अन्तिम निष्कर्ष निकल चुका। मनुष्य की परिमिति शक्ति को देखते यह कहना भी कठिन है कि उसका निकाला हुआ परिणाम कभी भी निश्चयात्मक हो सकेगा। प्रकृति अपने रहस्यों को इस प्रकार से छिपाकर रखती है कि मनुष्य चाहे उसका एक कोना देखकर आनन्द उठा ले, किन्तु किसी बड़े अंश का अच्छी तरह निरीक्षण कर पाना विधाता ने उसके भाग्य में नहीं लिखा है। अर्जुन का सा ही कोई कृष्ण का प्रेमपात्र हो, तभी क्षण भर के लिए उसे वास्तविक दशा का दर्शन हो जाता है और तब उसके मुख से यही शब्द निकलते हैं:—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे, सर्व्वांस्तथा भूत
विशेष संघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ, मृषींश्च सर्वानुरगांश्च
दिव्यान् ॥

अनेक बाहूदर वक्त्रनेत्रं, पश्यामि त्वां
सर्वतोनन्त रूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं, पश्यामि
विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं, त्वमस्य विश्वस्य परं
निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वत धर्मगोप्ता, सनातनस्त्वं
पुरुषो मतो मे ॥
अनादिमध्यान्तमनन्त वीर्यं, मनन्त बाहुं शशि
सूर्य नेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्त हुताश वक्त्रं, स्वतेजसा
विश्वमिदं तपन्तम् ॥
द्यावा पृथिव्योरिदमंतरं हि, व्याप्तं त्वयैकेन
दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं, लोकत्रयं प्रव्यथितं
महात्मन् ॥
... ...
यथा नदीनां बहवोम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखाद्द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोक वीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्ज्वलन्ति ॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा, विशन्ति नाशाय
समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि
वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥
—गीता, ११ अध्याय ।

ईरानी भाषाएं और संस्कृत ।

ईरानी भाषाएं, जैसे परज़ी, जिससे पहलवी और फिर पहलवी से फ़ारसी निकली, और मीदी, जिसमें पारसियों का धर्मग्रन्थ 'ज़ेंद अवस्ता' लिखा गया है— इनका पुरानी संस्कृत और प्राकृत से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह भी भाषा-तत्व के जिज्ञासुओं के लिये बहुत रोचक विषय है । यह तो स्पष्ट ही है कि संस्कृत और अवस्ता और पुरानी फ़ारसी का सादृश्य आकस्मिक नहीं है । अवस्ता की भाषा फ़ारसी के समान दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती है, किन्तु उसकी लिपि बिल्कुल भिन्न है और उसके अक्षर एक दूसरे से अलग नागरी-लिपि के समान लिखे जाते हैं । उनमें और नागरी लिपि में इतना विशेष अन्तर अवश्य है— जो अन्तर स्वयं हमारी कुछ पुरानी और आधुनिक लिपियों में है— कि अवस्ता में स्वरों के स्थान में मात्रा चिन्ह न होकर अलग अलग अक्षर हैं । यदि आप अवस्ता के छंदों को उठा कर पढ़ें तो आप को यही जान पड़ेगा कि हम वेदों के छंदों के कुछ विचित्र रूप का पाठ कर रहे हैं । आज भी हमारे देश के पारसी भाइयों में अवस्ता का वही स्थान है जो हिन्दुओं में वेदों का । मुझे अपने पारसी मित्रों के कुछ विवाहोत्सवों में सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है । उनके वैवाहिक संस्कार के समय जब मैंने ईश्वरोपासना सम्बन्धी छंदों का उच्चारण सुना, तब मुझे यही जान पड़ता था कि मानो वेदों के अपरिचित छंदों का कोई विचित्र परिवर्तन कर गान कर रहा है । मैं आपके सुनने के लिए कुछ छंद नीचे उद्धृत करता हूं—

यश्त नामक भाग के दसवें अध्याय का छठा मन्त्र इस प्रकार है:—

तम् अमवंतम् यज़तम्
सूरम् दामोहु सविश्तम्
मिथ्रम् यज़आइ ज़व थ्राब्यो ॥

तनिक इस मन्त्र पर विचार कीजिए; देखिये इसके एक एक शब्द संस्कृत में किस प्रकार लिखे जा सकते हैं—

तम् अमवंतम् यजतम्
शूरम् धेमसु शविष्ठम्
मित्रम् यजाइ होत्राभ्यः

अर्थात् बली शूरवीर मित्रदेव की होत्र से पूजा करता हूं, जो सब जन्तुओं पर दया करता है ।

'ज़ेन्द अवस्ता' में दो प्रकार की भाषा स्पष्ट दिखायी देती है । एक तो यासना (यज्ञ) विभाग में दी हुई पांचों गाथाओं की, जिनके

नाम यह है— अहुनवैति, उष्टवैति, स्पन्तामैन्युष, वहिष्टाइहि और वोहुक्षत्र ।

दूसरे प्रकार की भाषा 'खुर्द अवस्ता' तथा अवस्ता के अन्य भागों में पायी जाती है । गाथाओं की भाषा के सम्बन्ध में कुछ भाषा तत्वविदों का विचार है कि वह वेदों की भाषा के समान प्राचीन है । उष्टवैति गाथा में से दो छंद मैं नीचे उद्धृत करता हूं, जो पारसियों के आदि पुरुष भगवान् ज़रतुश्त के ही कहे हुए माने जाते हैं—

अत् प्रवक्ष्या नू गूशोद्दम् नू सवोता ।
य बचा अस्नात् य एचा दूरात् इषथा ।
नू ईम वीस्पा चिथ्रूरी मज्द न्होद्दम्,
नोइत् दैवितीम् दुशसीस्तश ।
अहूम मेरश्यात् अकावरना द्रग्वै हिज्वै आवरतो ॥१॥
अत् प्रवक्ष्या अन्हउश मइन्यू पोउरुये ।
यवैस्पन्यै उइति भ्रवत् यम् अंग्रम् ।
नोइत् नाम नै नोइत् संघानोइत् ख्रतवो ।
न पदा वरना नोइत् उरुधा न यदाश्यवथना
नोइत् द पनै नोइत् उर्वनो हचइते ॥ २ ॥

इसका अनुवाद, जो अवस्ता भाषा के पण्डितों ने किया है, यह है—

"अब मैं कहूंगा और तुम कान देकर सुनो ।
जो यहाँ पास से और दूर से आये हो ।
तुम इन बातों को चित्त में स्पष्ट धर लो ।
दुष्ट उपदेशकों से अपना आगामी जीवन नष्ट मत कराओ ।
और न पतित पापी के झूंठे विश्वास से अपनी जिह्वा को ॥ १ ॥"

"अब मैं जगत् की दो प्राथमिक आत्माओं का कथन करूँगा ।
जिनमें से पवित्र (आत्मा) ने दुष्ट (आत्मा) से कहा—
न हमारे मन, न हमारी शिक्षा, न हमारे विचार
न हमारे विश्वास, न हमारे शब्द, न सच-
मुच हमारे कर्म,
न हमारी बुद्धि और न आत्माएं किसी बात में मिलती हैं ॥ २ ॥

भाषा-विज्ञान के सौभाग्य से आज वेदों के अतिरिक्त इतना प्राचीन ग्रन्थ हमें उपलब्ध है । यदि इसी प्रकार से अन्य भाषाओं के प्राचीन और प्राचीनतम स्वरूप हमें हस्तगत होते तो भाषाओं के शृंखलाबद्ध तारतम्य से हम प्राचीन घटनाओं का कुछ निश्चित रूप से निरीक्षण कर सकते । अवस्ता के और प्राचीन संस्कृत के स्वरूप को देख न केवल उनके साधारण शब्द कोष किन्तु उनके व्याकरण में भी सादृश्य की झलक देख आप क्या परिणाम निकालते हैं ? न केवल वैदिक 'आर्यमन' अवस्ता का 'ऐर्यमन' है, 'वायु' 'वयु' 'दानव' 'दान' और 'असुर' 'अहुर' है, किन्तु संस्कृत द्वितीया के रूप, 'शूरम्' 'मिथ्रम' और पंचमी के रूप 'असनात्' 'दूरात्' दिखाई पड़ते हैं, और कुछ संस्कृत सर्वनाम—मे, मम, त्वम्—अवस्ता में भी उन्हीं रूपों में दिखाई पड़ते हैं। संस्कृत के समान ही अवस्ता में भी तीन लिङ्ग और तीन वचन पाये जाते हैं । संज्ञा और विशेषण की आठ विभक्तियां भी स्पष्ट दिखाई देती हैं । अवस्ता और संस्कृत के धातु रूपों में भी समानता है । छन्द भी वैदिक छन्दों से मिलते जुलते दिखायी पड़ते हैं । यह मिलान आकस्मिक नहीं हो सकता । यह अवश्य दोनों भाषाओं का सम्बन्ध स्थापित करता है ।

इसी प्रकार पुरानी फारसी और संस्कृत की समानता आश्चर्यजनक है । विचार के साथ यदि आप आधुनिक फारसी भी पढ़ें और उसमें अरबी से आये हुए बहुसंख्यक शब्दों को अलग कर दें, तो पग पग पर आप को ऐसे शब्दों की भरमार मिलेगी, जिनके रूप रङ्ग में संस्कृत शब्दों की ही वंशकृति दिखाई पड़ती है । फ़ारसी का पंडित न होते हुए भी फ़ारसी के

प्राचीन काव्यों के पढ़ते समय मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यदि अरबी के शब्द छोड़ दिये जायं तो शेष शब्दों में लगभग पचास फी सदी इस समय ऐसे मिलते हैं जिनका रूपान्तर आप संस्कृत शब्दों में देख सकते हैं। फ़ारसी पढ़ते समय कभी कभी मैंने ऐसे शब्दों को टांक लिया है। उन्हीं शब्दों में से कुछ इस समय आपके सामने उपस्थित करता हूँ—

संस्कृत	फ़ारसी	संस्कृत	फारसी
भूमि	बूम	शर्करा	शक्कर
वारि, वारीणि	बारां	क्षीर	शीर
आप	आब	ताम्बूल	तम्बोल
वात	बाद	शृगाल	शिगाल
मिहिर	महर	शकुन	शुगुन
सूर	हूर	अहम्	अम
जीवन	जान	नव	नव
अघ	आक	क्षुद्र	खुर्द
कुब्ज	कुब्ज	एक	यक
गो	गाव	द्वि	दोह
खनि	कान	चत्वार	चहार
तनु	तन	पंच	पंज
जानु	ज़ानू	षष्ठ	शश
भ्रू	अबरू	सप्त	हफ्त
अभ्र	अब्र	अष्ट	हश्त
मूष	मूष	नव	नह
मूषक	मूषक	दश	दह
अश्वतर	असतर, असतूर	रुह, रोहित	रवीदन, रवीद
अश्व	अस्प	श्रुणु	शुनौ
आपद	आफत	द्रु	दरीदन

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि हमारे देश की प्राचीनतम भाषा का वैसा संकुचित क्षेत्र न था, जैसा समय पाकर धीरे धीरे हो गया, वरन् उसका नैसर्गिक घनिष्ठ सम्बन्ध संसार की अन्य शिष्ट भाषाओं से था। यह सम्बन्ध कैसे हुआ और किस प्रकार का था, अन्य देश की भाषा भारत वर्ष में आयी अथवा भारतवर्ष की भाषा अन्य देशों में गयी, यदि आयी तो किन किन मार्गों से और किस के साथ, यदि गयी तो कैसे और किसके द्वारा, और जहां गयी वहां की पहिले की भाषा में उसने किस किस प्रकार परिवर्तन किया, प्राचीन संस्कृत का अन्य प्राचीन भाषाओं के साथ बहिनों का अथवा मातापुत्री का नाता है, इत्यादि ऐसे प्रश्न बड़े रोचक और आकर्षक हैं। इन पर बड़े बड़े भाषा-तत्वज्ञों ने विचार किया है, किन्तु अब भी बहुत अन्वेषण और विचार की आवश्यकता है। यह अवसर इन प्रश्नों के उठाने का नहीं है और न मुझ में इन पर कोई नवीन प्रकाश डालने की योग्यता ही है। भाषा कितनी व्यापक हो सकती है, किन्तु स्थान-भेद और समय-भेद से उसमें कितना परिवर्तन हो सकता है, इसका अल्प उदाहरण ऊपर कही गयी बातों से मिलता है।

प्राकृत और संस्कृत।

ऊपर जिन भाषा सम्बन्धी प्रश्नों का मैंने सङ्केत किया है, उनसे कुछ ही कम गहन (कम इसलिये कि उनका क्षेत्र आपेक्षिक दृष्टि से परिमित है और गहन इसलिए कि हज़ारों वर्षों की लम्बी गुफ़ा के अन्धकार में हमें टटोल टटोल कर बिना भटके चलना दुष्कर है) यह प्रश्न है कि हमारी प्राचीनतम भाषा का क्या रूप था, उसके संस्कृत होने में क्या परिवर्तन हुए, इस परिवर्तन ने किस प्रकार साधारण भाषा पर अपना प्रभाव डाला और यह परिवर्तित भाषा किसी श्रेणी विशेष की भाषा ही रही अथवा कभी भी जनता की बोलचाल की भाषा बनी और हमारी प्राचीन भाषा और इस संस्कृत भाषा ने किस प्रकार धीरे धीरे अन्य भाषाओं को उत्पन्न किया, जिनसे समय पाकर आधुनिक

भाषाएं निकलीं। इस विषय के सम्बन्ध में दो मुख्य विचार हैं। एक तो यह कि पाली और अन्य प्राकृत भाषाएं, जिनसे आधुनिक भाषाएं निकली हैं, संस्कृत की पुत्री थीं, अर्थात् संस्कृत भाषा ही भ्रष्ट होकर प्राकृत बनीं और प्राकृत के अपभ्रंश से धीरे धीरे आजकल की भाषाएं निकलीं।

दूसरा मत यह है कि संस्कृत कभी साधारण बोलचाल की भाषा न थी, अथवा थी तो केवल शिष्ट और शिक्षित समुदाय की, और साधारण लोगों की भाषा आदि समय से ही भिन्न थी, इस कारण से प्राकृत भाषाएं संस्कृत से नहीं, किन्तु प्राचीन प्राकृत से ही निकली हैं, अथवा यों कहा जाय कि प्राचीन भाषा, जिसे मूल प्राकृत कह सकते हैं, समय के प्रभाव से धीरे धीरे उन रूपों में परिवर्तित हुई, जो संस्कृत और पाली के ग्रन्थों में पाये जाते हैं और उन्हीं से आधुनिक भाषाओं का विकास हुआ। पहले पक्ष के प्रकृष्ट पोषक हमारे देश के प्रचण्ड विद्वान रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर हैं। इसी पक्ष का तृतीय सम्मेलन के सभापति परलोकवासी श्रद्धेय बदरीनारायण चौधरी ने समर्थन किया था। दूसरे पक्ष में विलसन, वेबर, बीम्स आदि संस्कृत के पाश्चात्य विद्वान संगठित हैं। स्वागत-समिति के पूज्य सभापति 'हिन्दी' के अद्वितीय विद्वान पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' नामक पुस्तिका देखने से अनुमान होता है कि वह भी इसी सिद्धान्त के पोषक हैं। ऐसे अनुभवी और अन्वेषणशील विद्वानों के बीच की बात में मेरा कुछ भी कहना बच्चे की बकवाद सा जान पड़ेगा। किन्तु इस कारण से कि मैं इस विषय में कुछ अपनी सम्मति रखता हूं, यद्यपि इस विषय में मेरा अनुशीलन तो बहुत ही थोड़ा है, आप के सामने उसे प्रकट करने की धृष्टता करता हूं। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि इस विवाद में 'संस्कृत' शब्द के अर्थ पर ही सत्य का निर्णय निर्भर होगा। यदि संस्कृत का अर्थ केवल उस भाषा से लिया जाय, जिसमें हमारी प्राचीन सभ्यता का उत्तुङ्ग उत्कर्ष ढले हुये शब्दों में दक्ष चितेरों की कूंची से चित्रित है, और जिसने सैकड़ों वर्ष के संस्कार के बाद पतंजलि और कात्यायन के समय में अपना रूप निश्चित किया, तो मुझे भी यह कहना पड़ेगा कि इस भाषा से प्राकृत और हिन्दी का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। संस्कृत शब्द से यही अर्थ प्रायः उन लोगों ने समझा है जिन्होंने इस मत का पोषण किया है। एक अंश में उनका यह अर्थ करना ठीक भी है, क्योंकि संस्कृत शब्द भी उसी भाषा का बोधक है और साधारणतया उसी अर्थ में प्रयुक्त भी होता है। किन्तु यदि संस्कृत शब्द में उन समस्त बोलियों का समावेश हो, जो ऋग्वेद की ऋचाओं और तत्पश्चात् ब्राह्मणों के समय में बोली जाती थीं और जिनमें स्वाभावतः न केवल शिष्ट किन्तु ग्रामीण तथा अशिक्षित जातियों के भी शब्द सम्मिलित थे और आपेक्षिक दृष्टि से जिसका प्रचार बहुत पीछे के काल तक होता आया अर्थात जो सहस्रों वर्ष इस देश में रूपांतरित हो पतञ्जलि के समय तक बोली जाती रहीं, तो अवश्य यह कहा जा सकता है कि संस्कृत से ही आधुनिक एतद्देशीय भाषाएं निकली हैं। मुझे तो यही अनुमान होता है कि संस्कृत भाषा की परिभाषा यदि हम निश्चित कर लें तो इस विवाद का निराकरण हो जाय। आप स्वयं तनिक विचार तो कीजिये कि क्या यह कभी सम्भव था कि जब बोलचाल की भाषा का संस्कार कर संस्कृत भाषा बनी, तब क्या वही संस्कृत समस्त जनता की कभी बोलचाल की भाषा हो सकती थी, और क्या प्रचलित भाषा का संस्कार होते ही वह उस

नयी भाषा में तल्लीन होकर लुप्त हो गयी ? उन पाश्चात्य विद्वानों का, जो प्रायः संस्कृत से प्राकृत भाषाओं का प्रादुर्भाव नहीं मानते, यह मत है कि संस्कृत एक प्रकार की अप्राकृतिक भाषा यज्ञ पूजन आदि के काम के लिए ब्राह्मणों ने निर्माण की थी और वह कभी बोलचाल की भाषा हुई ही नहीं, उसमें केवल गौरव के लिए शिष्ट समुदाय ने ग्रंथ लिखना आरम्भ किया। भाण्डारकरजी ने इस मत का खण्डन बड़ी विद्वता से अपने प्रसिद्ध 'भाषा तत्व सम्बन्धी व्याख्यानों' में किया है, और मेरी भी अल्प बुद्धि उनकी इस विषय की दलीलों को स्वीकार करती है। किन्तु एक बात ध्यान में रखने की यह है कि इस बात के दिखलाने के लिये कि संस्कृत भाषा के साथ साथ बोलचाल की साधारण भाषा कुछ अन्य थी, पाश्चात्य विद्वानों के इस मत से सहमत होना आवश्यक नहीं कि संस्कृत एक अप्राकृतिक रीति से वैसे ही निर्मित भाषा थी, जैसे कुम्हार के चाक से निकला हुआ कुम्भ, जो केवल यज्ञ की वेदी पर रखने के लिये बनाया गया हो। यह क्यों असम्भव समझा जाय कि वास्तव में जो प्रचलित बोलियां बोली जाती थीं, उनमें से ही एक प्रकार की आदर्श भाषा स्वाभाविक रीति से शिष्ट समाज में प्रचलित हुई और उसी से, व्याकरण के मंत्रों से संस्कार करने के पश्चात् संस्कृत बनाई गयी। इस प्रकार से भाषा बनने और पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार यज्ञ पूजनादि के लिये भाषा बनने में बड़ा अन्तर है। मुझे तो यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि जिस प्रकार सदा एक देश अथवा राष्ट्र में बहुत सी स्थानीय बोलियां रहते हुए भी एक खिचरी भाषा कुछ ऐसी होती है, जिसमें साधारण जनता अपने मनोभाव का लेन-देन करती है, उसी प्रकार प्राचीन समय में भी या तो छोटे से आर्य-समुदाय में एक ही बोली थी अथवा भिन्न भिन्न समुदाय और उनकी भिन्न भिन्न बोलियां होने पर भी उनकी एक भाषा इस प्रकार की रही, जो बोलियों से तो भिन्न थी, किन्तु जिसमें बोलियों का समावेश होता था। आज भी यही दृश्य हम अपनी आँख के सामने देख सकते हैं। जिस भाषामें मैं इस समय बोल रहा हूं, वह हमारे देश की स्थानीय बोलियों से भिन्न है, किन्तु वह केवल शिष्टजनों की अप्राकृतिक नियमों से गढ़ी हुई भाषा नहीं कही जा सकती, ग्रामीण मनुष्य भी उस भाषा को पहचानता है और उसे अपनी भाषा कहता है, यद्यपि वह उसे उसी रूप में व्यवहृत नहीं करता। हिन्दी साधारण ग्रामीण बोली न होती हुई भी किसी विशेष कार्य्य के लिये गढ़ी नहीं गयी, वह पूर्णरूप से और अति-व्याप्ति और अव्याप्ति के दोषों से बचते हुए जनता की भाषा कही जा सकती है। हाँ, यदि हममें से कुछ चतुर विद्वान इस भाषा में साधारणता और गौरवन्यूनता का दोष देख इस प्रकार से उसका शोधन करने बैठें कि उसमें आये हुए प्रचलित शब्दों की काटछाँट कर व्याकरण के ऐसे अकाट्य नियम रक्खें जिनको बिना सीखे कोई भी शिष्ट-भाषाभाषी न कहा जा सके तो अवश्य ऐसी संस्कृत हिन्दी की सूरत और दशा दूसरी ही हो जायगी। मुझे अपने तात्पर्य को कुछ और स्पष्ट करने की आवश्यकता जान पड़ती है। मेरा यह विचार है कि आरम्भ से स्थानीय परिवर्तनों के होते हुए भी आर्यों की एक जीती जागती साधारण भाषा थी, जो संस्कृत न होते हुए भी संस्कृत से बहुत भिन्न न थी। यदि हम इसी भाषा को संस्कृत कहें तो संस्कृत से ही पाली तथा प्राकृत भाषाओं का प्रादुर्भाव कहा जा सकता है और यह विवाद ही नहीं रह जाता कि प्राचीन प्राकृत से मध्य-कालीन प्राकृत निकली अथवा संस्कृत से। इस सिद्धान्तानुसार मूल प्राकृत और संस्कृत एक ही वस्तु के दो नाम हो जाते हैं। किन्तु

पीछे से व्याकरण के नियमों द्वारा संशोधित हो शिष्ट समुदाय और ग्रंथकारों की जो भाषा हुई, यदि केवल उसी का नाम हम संस्कृत रखते हैं, तो आर्यों की यह प्राचीन भाषा मूल प्राकृत कही जा सकती है। इस भाषा का वेदों की भाषा तथा ज़ेन्द अवस्ता की भाषा से भी बहुत सादृश्य रहा होगा। इसी जनता की भाषा का संस्कार करते २ संस्कृत बनी और ज्यों ज्यों उच्च कोटि के आर्य और साधारण जनता में भेद होता गया, त्यों त्यों संस्कृत साधारण जनता की भाषा से, उस पर अपना प्रभाव डालती हुई भी, अलग होती गयी। संस्कृत भाषा के निर्माण से अथवा उच्च आर्यों की खर्सी पर चढ़कर मजे हुए स्वरूप में उसके निकलने से यह तो संभव ही न था कि मूल भाषा अथवा प्राकृत का लोप हो जाता अथवा साधारण जनता इस रीति से मजी हुई संस्कृत भाषा को बोलने लग जाती। संस्कृत भाषा को इस अर्थ में लेने पर यह भाव उस अर्थ ही में प्रविष्ट है कि वह साधारण जनता की भाषा न थी। ऐसी दशा में जनता की जीती जागती और चलती भाषा मूल प्राकृत ही रही और उसी के रूपों में धीरे धीरे परिवर्तन होते हुए वह माध्यमिक काल की उन १८ प्राकृतों में विभक्त हुई, जिनकी चर्चा संस्कृत और प्राकृत साहित्य में मिलती है। यदि हम हिन्दी भाषा की धारा पर ऊपर की ओर चढ़ते जाँय, तो हमें संस्कृत का स्रोत कहीं नहीं मिलेगा, किन्तु अपभ्रंश भाषा, फिर प्राकृत और फिर मूल प्राकृत तक हम पहुंच जायंगे। संस्कृत स्वयं बहुत ऊंचे पर जाकर मूल प्राकृत से निकलती हुई एक धारा दिखायी पड़ेगी, जो बहुत दूर तक पृथक् प्रबल वेग से बहती है, और अन्त में ऐसे रेगिस्तान में पहुंच जाती है, जहाँ उसका जल सर्वथा लुप्त तो नहीं हो जाता किन्तु एक गहरे कुण्ड में गिर कर और इकट्ठा होकर आगे बढ़ने का सामर्थ्य खो बैठता है। परन्तु आप यह भी देखेंगे कि कुण्ड में गिरने से पहले उसकी प्रबल धारा अपनी बहुत सी छोटी शाखाओं से इधर उधर भूमि को उर्वरा करती है और उनमें से कतिपय शाखाएं फिर भाषा के मूल प्रवाह में, जिस पर आप अपनी कल्पना में चढ़ते हुए जा रहे हैं, आकर मिल जाती हैं। मैं जानता हूं कि मेरी इस उपमा पर कुछ सज्जन अप्रसन्न हो सकते हैं, किन्तु भाषा के प्रश्न पर विचार करते हुए, मेरा उनसे निवेदन है कि वे केवल तत्व पर ध्यान रक्खें। यह अवश्य है कि हम बहुत दिनों से सुनते चले आये हैं कि हिन्दी तथा देश की अन्य भाषाएं संस्कृत की पुत्री हैं और मेरे कथनानुसार वह संस्कृत की पुत्री नहीं कही जा सकतीं, किन्तु भाषा के मर्मज्ञों को पक्षपात में फंसने से बचना कठिन न होना चाहिए।

हिन्दी शौरसेनी प्राकृत की पुत्री है, यह प्रायः सभी मानते हैं; किन्तु शौरसेनी मूल प्राकृत की पुत्री है अथवा संस्कृत की, इसी में विवाद है और यह विवाद, जैसा मैंने अभी वर्णन किया है, प्रायः शब्दों के अर्थ में स्पष्टता न होने के कारण है। संस्कृत को केवल संस्कार की हुई भाषा मान लेने से हिन्दी प्राकृत के कुटुम्ब में से है यही कहना पड़ेगा। उस परिष्कृत भाषा का रूपान्तर प्राकृत हुआ और उस में से हिन्दी का प्रादुर्भाव हुआ ऐसा मानना मुझे नितान्त अस्वाभाविक प्रतीत होता है। पण्डित बदरीनारायण चौधरी ने तृतीय सम्मेलन के भाषण में, इस बात के पुष्ट करने के लिए कि संस्कृत से प्राकृत के द्वारा हिन्दी निकली, कुछ शब्दों के उदाहरण दिये हैं, जिनसे संस्कृत शब्द का बिगड़ कर प्राकृत बनना और प्राकृत का बिगड़ कर हिन्दी बनना प्रकट किया गया है। यह दलील साधारणतः और भी विद्वानों ने दी है। मैं उदाहरण के लिए थोड़े ही से शब्द चौधरी जी की सूची से उद्धृत करता हूं :—

संस्कृत	प्राकृत	भाषा
अहम्	अस्मि	हम, मैं
त्वम्	तुअ	तुम, तू
बातुलम्	बाउलो	बावला
शैय्या	सेज्जा	सेज
उपाध्यायः	उपज्झाओ	ओझा
मृत्तिका	मटिया	मट्टी
घृतम्	घियम्	घी
यष्टिः	लट्ठी	लाठी

इस प्रकार के उदाहरणों से यह अवश्य स्पष्ट है कि संस्कृत और प्राकृत शब्दों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्भव है कि इनमें बहुत से शब्द संस्कृत से बिगड़ कर प्राकृत हुए हों। संस्कृत भाषा तो शिष्ट समुदाय की भाषा थी ही और उसका प्रभाव साधारण भाषा पर पड़ना अथवा उसके कुछ शब्दों का बिगड़ कर साधारण भाषा में आ जाना स्वाभाविक था, किन्तु सम्पूर्ण प्राकृत भाषा का संस्कृत भाषा से निकलना इन उदाहरणों से प्रमाणित नहीं होता। सम्बन्ध स्थापित होता है, किन्तु मातृत्व नहीं। इन उदाहरणों से मातृत्व मान लेना तर्क का दोष है, क्योंकि जो सम्बन्ध हमें दिखायी देता है, वह इस प्रकार से भी हो सकता है कि जिन रूपों को मांज कर संस्कृत के रूप हमें ग्रन्थों में दिखाई देते हैं, उन्हीं आदि रूपों से यह प्राकृत के रूप वंश-परम्परा से आये हों। और फिर हमें उन प्राकृत शब्दों के समूह को न भूल जाना चाहिए, जिनका किसी प्रकार संस्कृत शब्दों से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। ये शब्द न तत्सम हैं और न तद्भव, किन्तु देश्य हैं। यह शब्द तो कुछ ऐसे ही शब्दों से वंश-परम्परा बद्ध होकर आये हैं जिनकी उत्पत्ति संस्कृत के अतिरिक्त, जो साधारण बोलचाल की भाषा थी, उसी से हो सकती है। ऊँघना, पेट, बाप, कोट इत्यादि शब्दों का मेल ढूँढ़ने पर भी किसी संस्कृत शब्द से नहीं मिलता; इन शब्दों के आदि रूप प्रकृति में मिलते हैं। केवल इतना कह देने से ही, कि यह शब्द पीछे से प्राकृत में जुड़ गये होंगे, न इस विषय का समाधान होता है और न परिष्कृत संस्कृत भाषा से प्राकृत का निकलना ही प्रमाणित होता है।

नाश और विकास।

यहां पर, भाषा के विकासक्रम के सम्बन्ध में, मैं एक विशेष बात और कहना चाहता हूं, जो संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के पारस्परिक सम्बन्ध के स्थिर करने में विचारणीय है। इस संसार में जीवन और मृत्यु का कार्य्य-कारण सम्बन्ध है। जीव मृत्यु के सहारे ही जीवित है। यही सिद्धान्त जीवित भाषाओं के सम्बंध में भी लगता है। जिस प्रकार हमारे शरीर में प्रति दिन कितने ही जीवित कृमि मरते हैं और सहस्रों नये बन कर उनका स्थान लेते हैं और इसी अटूक संग्राम का नाम ही जीवन है, उसी प्रकार जीवित भाषा में भी शब्दों का बिगड़ना और बनना प्रकृतिसिद्ध है। मरे हुए शब्दों के शव से नये शब्द उत्पन्न हो कर भाषाप्रवाह में तीव्र गति से तैरते हैं, और यदि इस प्रकार से शब्दों का बिगड़ना और नये शब्दों का बनना बन्द होजाय तो जीवधारी के शरीर समान भाषा का शरीर भी नष्ट हो जाता है। अर्थात् उस में से प्रगति-स्वरूप जीव निकल जाने से वह निर्जीव पत्थर के समान हो जाती है। इसीलिए गति-शून्य ऐसी भाषाओं को मृत भाषाएँ कहने का जो चलन है, वह सर्वथा उपयुक्त है। मृत्यु और जीवन जहां बराबर है, वहीं वास्तविक जीवन है। नाश और विकास में घनिष्ठ संबन्ध है। जहां नाश नहीं, वहा विकास भी बन्द हो जाता है। जब तक भाषा के रूपों का नाश बराबर होता रहता है, तब तक उसका विकासक्रम भी चलता रहता है। शारीरक विद्या के जाननेवाले वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि हमारे शरीर के भीतर लगातार

परिवर्तन होता रहता है, जितना ही हम शरीर को काम में लाते हैं उतना ही शीघ्र शरीर के तन्तुओं का नाश होता है और जितना ही शीघ्र इन तन्तुओं का नाश होता है उतना ही शीघ्र स्वस्थ और बलिष्ठ नव तन्तु उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार नाश और उत्पत्ति क्रम से मनुष्य स्वस्थ रूप से बलिष्ठ और जीवित रह सकता है। बच्चे को जितना ही आप दौड़ाते हैं, उतना ही उस के तंतुओं का नाश करते हैं और उतने ही नये तंतुओं की सृष्टि करते हैं। इसी गति से उसके शरीर की वृद्धि और पुष्टि होती है और जब तक उस में जीवन है तब तक यही क्रम चला जाता है। विज्ञानवेत्ता हमें बताते हैं, कि प्रत्येक सात वर्ष में शरीर के प्रत्येक तन्तु का परिवर्तन होता जाता है। यदि आप इस मोह से कि बच्चे के शरीर-तन्तु नष्ट न हों उससे शारीरिक काम न करायें और उसे प्रकृति के आंगन में कल्लोल करने के लिये न छोड़ दें, तो वह विकसित न होकर धीरे धीरे मुरझा जायगा। ठीक यही शैली जीवित भाषा के तंतु-नाश और विकास की होती है। प्रकृति के आंगन में खेलती और दौड़ती हुई भाषा अपने सैकड़ों तन्तुओं का प्रति दिन नाश करती है और उन्हीं नष्ट तन्तुओं के मसाले से तथा प्रकृति की अन्य शक्ति से नये शब्द-तन्तुओं का निर्माण करती रहती है। यदि आप इस भय से कि कहीं भाषा-शरीर के कुछ शब्द-तन्तु विकृत अथवा नष्ट न हो जाँय, उन्हें व्याकरण के नियमों की आज्ञा से जहाँ के तहां बैठा दें, तो परिणाम यही होगा कि धीरे धीरे शरीर कुम्हला जायगा, और वे अपरिवर्तनशील शब्द, जिन की आपने रक्षा की थी, जीवित शरीर से अलग होकर स्तम्भित रूप में आप को दिखायी पड़ेंगे। मेरी इस उपमा में कुछ अन्तर हो सकता है, किन्तु जिस सिद्धान्त को मैंने आप के सामने इस उपमा द्वारा उपस्थित किया है, वह आप बराबर भाषा के विकास में देखेंगे। संस्कृत भाषा के संबन्ध में भी मुझे तो यही भासता है कि साधारण जनता की भाषा से उसे अलग करने का ही यह परिणाम हुआ कि वह ठिठक गयी और उस की वृद्धि रुक गयी। नियमों से बँधकर उसके शब्द-रूपों का विकृत और नाश होना बन्द हो गया, और उसके साथ ही उसके शरीर की गति भी धीरे धीरे बन्द हो गयी। किन्तु वह आदि प्राकृत, जो जनता की भाषा थी, अपने पुराने शब्द-समूहों का नाश और नये शब्द-समूहों की उत्पत्ति करती आयी। इस प्रकार नाश के रूप में उसका विकास होता चला आया। उस आदि प्राकृत से स्वभावतः स्थानीय भेदों के कारण कई प्रकार की प्राकृत भाषाएं निकलीं।

प्राकृत अपभ्रंश और हिन्दी।

वररुचि ने चार प्रकार की प्राकृत भाषाओं का व्याकरण दिया है, अर्थात् महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची। पीछे आकर इन मुख्य चार प्राकृतों के और भी रूपान्तर हुए, जो भिन्न भिन्न स्थानीय नामों से विख्यात हुए। मराठी और शौरसेनी प्राकृत के दो एक उदाहरण मैं आप के सामने रखता हूं:—

" निय आये चिय वा आयापि,
अत्तणो गारवँ निवेसयन्ता ॥
जे यंति पसंसं चिय,
जयंति इह ते महा कइणो ॥

इसे भाण्डारकर महाशय ने इस प्रकार संस्कृत में परिवर्तित किया है:—

निजयैव वाच आत्मनो, गौरवं निवेशयन्तः ॥
ये यान्ति प्रशंसामेव जयंति ते महाकवयः ॥

एक और उदाहरण शौरसेनी प्राकृत का उपस्थित करता हूं।

कधं भणु गहीदिम्ह । इअमालिङ्गामि । दंसणं उण पियसहीए बाहुप्पीडेण णिरुद्धम् ण लब्भीअदि ।

संस्कृत में इसका रूपान्तर यह है —

कथमनुगृहीतास्मि । इयमालिङ्गामि । दर्शनं पुनः प्रिय सख्या बाष्पोत्पीडेन निरुद्धम् न लभ्यते ॥

अधिक समय लेने के भय से मैं और अन्य प्रकार की प्राकृत के उदाहरण नहीं देता। इन्हीं उदाहरणों से आप कुछ अनुमान प्राकृत के स्वरूप का कर सकते हैं।

इन्हीं प्राकृतों से रूपांतर और रूपनाश के क्रमानुसार अपभ्रंश भाषा का विकास हुआ। वररुचि ने तो अपभ्रंश भाषा की प्राकृत-प्रकाश में कोई चर्चा नहीं की है, किन्तु हेमचन्द्र ने उसको भी प्राकृत का एक रूप माना है और उसका व्याकरण दिया है। इस भाषा में आप आधुनिक हिन्दी का रूप पहचान सकते हैं। अपभ्रंश भाषा में आपको आधुनिक हिन्दी के बहुत छंद मिलते हैं। मैं दो एक उदाहरण इस भाषा के भी आप के सम्मुख रखता हूं—

पत्तहे तेत्तहे वारिघरि लच्छि विसंठुल धाइ।
पिअ पब्भट्ठव गोरडी निच्चल कहिंवि न ठाइ॥
जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्स।
तसु हउं कलजुगि दुल्लह हो बलि किज्जउं सु अणस्सु॥

इन रूपों में आपको चंद की भाषा और छंद से भी कुछ मेल मिलता है। वास्तव में, यह अपभ्रंश भाषा शौरसेनी प्राकृत और पुरानी हिन्दी के बीच में आती है, और दोनों ही से उसकी समानता है। आपको यह जान पड़ता है कि आप मारवाड़ और व्रज के पुराने कवियों के समीप पहुंच गये हैं। हिन्दी भाषा के भावी रूप की छटा आपको यहीं दिखायी पड़ने लगती है। इस अपभ्रंश भाषा के साथ मिलान के लिये चंद के छंदों के दो एक उदाहरण दिये बिना मैं नहीं रह सकता —

पुच्छत बयन सु बोले, उच्चरिय कीर सच्च सचाये।
कवण नाम तुअ देस, कवण मन्दकरयपरवेस॥ १॥
हसम हयग्गय देस अति, पति सायर मृज्जाद।
प्रबल भूप सेवहिं सकल, धुनि निसान बहु साद॥२॥
सवा लष्य उत्तर सयल, कमऊँ गढ़ दुरङ्ग।
राजत राज कुमोद मनि, हय गय द्रिब्ब अभंग॥३॥

आगे भाषा का किस प्रकार से रूप-परिवर्तन हुआ, उसके उदाहरण मैं इस स्थान पर न दूंगा क्योंकि इसके पश्चात् हम तुरन्त ऐसे समय में आ जाते हैं, जो प्रति दिन के पठन पाठन से इस समय भी हमारी आंख के सामने है। इन सब परिवर्तनों में आप भाषा के विकास का वही सिद्धान्त पायेंगे, अर्थात् दिन पर दिन कुछ शब्दों का नाश और उन्हीं के शरीर से नवीन शब्दों का प्रादुर्भाव। यह परिवर्तन अब भी बराबर हिन्दी भाषा में जारी है, और उसका जारी रहना ही उस की सजीवता का कारण और द्योतक है।

प्राचीन ग्रन्थों की रक्षा।

प्राकृत और अपभ्रंश तथा अपभ्रंश से मिली हुई पुरानी हिन्दी के ग्रन्थों का प्रायः लोप सा हो रहा है। जो ग्रन्थ नष्ट हो गये और अब अप्राप्य हैं उनके सम्बन्ध में सिवाय शोक के और हम कर ही क्या सकते हैं? किन्तु मुझे तो ऐसा विश्वास होता है कि अब भी यदि पूर्ण रूप से खोज की जाय तो बहुत से भाषा-रत्नों का उद्धार हो जाय। अन्य देशों में ऐसे महत्व के काम राज्य की ओर से लाखों रुपये व्यय कर किये जाते हैं। हमारे देश में दुर्भाग्य से सैकड़ों वर्षों की राजनीतिक स्थिति के कारण उन ग्रन्थों का पठन-पाठन उड़ गया और वे कहीं देखने में भी नहीं आते। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और हिन्दी की अन्य संस्थाएं तथा हिन्दी-सेवियों का एक बड़ा कर्तव्य मुझे यह जान पड़ता है कि इन ग्रन्थों के लिये गहरी खोज की जाय, और एक विशाल संग्रहालय बनाया जाय

जहां देश भर से इकट्ठा कर ऐसी पुस्तकें सुरक्षित की जांय। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से इस ओर जो कुछ काम हुआ है उसके लिये वह धन्यवाद की पात्र है, किन्तु जो काम करना है उस को देखते हुए, जो अब तक काम हुआ है, वह बहुत ही कम प्रतीत होता है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की सार्थकता इस प्रकार की महती आवश्यकताओं के पूरा करने में ही है। यदि इस वर्ष सम्मेलन के कार्य-कर्त्ताओं और सहायकों की संघटित शक्ति इसी काम में लग जाय तो न केवल हिन्दी भाषा का किन्तु देश भर का, ऐतिहासिक खोज की दृष्टि से, बड़ा उपकार हो जाय। क्या हिन्दी ऐसी विस्तृत भाषा को मातृभाषा कहनेवाले सहस्रों धनाढ्यों के लिये यह असम्भव है कि वे तुरन्त दो चार लाख की पूंजी इकट्ठा कर इस काम में हाथ लगायें?

पुरानी हिन्दी, बृज भाषा और खड़ी बोली।

हिन्दी भाषा के क्रम-विकास के सम्बन्ध में एक और बात मैं कहना चाहता हूं। प्रायः साधारण जनों की यह धारणा सी जान पड़ती है कि जो भाषा खुमान रासो अथवा पृथ्वीराज रासो में पायी जाती है वहीं से हिन्दी का आरम्भ समझना चाहिये; और वही हिन्दी का आदि स्वरूप है, उसी से व्रजभाषा निकली और व्रजभाषा से धीरे धीरे आधुनिक खड़ी बोली का प्रादुर्भाव हुआ। मेरा निवेदन यह है कि यह बात भाषा-क्रम-विकास के विरुद्ध है, और हमें हिन्दी के जो भिन्न भिन्न रूप अपने पुराने ग्रन्थों में दिखायी पड़ते हैं, वह इस विचार के सर्वथा विपरीत प्रमाण हैं। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि चंद की भाषा में अधिकतर प्रान्तीय भाषा का मिश्रण है। जिस समय चंद राजस्थान में कविता कर रहे थे, उसी समय व्रज अथवा अवध में वही चंद की भाषा बोली जाती थी, अथवा उसी भाषा में यहां के भावुक रसिक जन अपने आनन्दोत्सव के गीत गाते थे अथवा उसी भाषा के द्वारा माताएं अपने बच्चों को पालने पर झुलाती हुई लोरियां गाती थीं, ऐसा होना प्रमाणित नहीं है। जो बातें ज्ञात हैं वह इसके प्रतिकूल हैं। यह भी नहीं जान पड़ता कि खड़ी बोली व्रजभाषा में से ही सीधी निकली है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो व्रज में, जो व्रजभाषा का केंद्र है, आज भी आप खड़ी बोली का प्रचार देखते। वास्तव में, आप देख रहे हैं कि आज भी राजपूताने की भाषा बृजभाषा की अपेक्षा चंद की भाषा के अधिक समीप है और जहां बृजभाषा का साम्राज्य है वहाँ खड़ी बोली साधारण जनता की भाषा नहीं है। खड़ी बोली का प्रचार केवल बोली की रीति से दूसरे ही स्थानों में है। इससे मुझे तो यही प्रतीत होता है कि इन भाषाओं का क्रम-विकास अपभ्रंश भाषाओं से पृथक् पृथक् हुआ है। अपने पुराने साहित्य पर दृष्टिपात कीजिये, तो भी यही बात प्रकट होती है। चंद का समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दि के प्रायः मध्य में माना गया है। अमीर खुसरो का जन्म-संवत् १३१२ सिद्ध है, अर्थात् चंद के अंत और ख़ुसरो के जन्म में केवल ६४ या ६५ वर्ष का अन्तर था। किन्तु आपको ख़ुसरो की भाषा और चंद की भाषा में कितना भारी अन्तर दिखायी पड़ता है, जो कदापि ऐसी दो भाषाओं में नहीं हो सकता जिनमें से पहिली से दूसरी निकली हो। चंद के कुछ नमूने मैं ऊपर दे चुका हूं। ख़ुसरो की कुछ कवितायें यहां उपस्थित करता हूं—

(१)

सरकंडों के ठट्ठ बँधे और बंद लगे हैं भारी।
देखी है, पर चाखी नाहीं लोग कहैं है खारी॥

(२)

खड़ा भी लोटा पड़ा भी लोटा,
है बैठा और कहैं हैं लोटा ॥
खुसरो कहैं समझ का टोटा।

(३)

सर पर जटा गले में झोली, किसी गुरू का चेला है।
भर भर झोली घरको धावै, उसका नाम पहेला है ॥

(४)

सेज पड़ी मेरे आँखों आया,
डाल सेज मुहिं मजा दिखाया।
किससे कहूं मजा मैं अपना,
ऐ सखि साजन ना सखि सपना ॥

खुसरो की दो-सखुनी हिन्दी प्रसिद्ध है; दो एक उदाहरण देता हूं—

(१)

प्रश्न—रोटी जली क्यों ?
घोड़ा अड़ा क्यों ?
पान सड़ा क्यों ?
उत्तर—फेरा न था।

(२)

प्रश्न—दीवार क्यों टूटी ?
राह क्यों लूटी ?
उत्तर—राज न था।

खुसरो के इस रसीले दोहे पर भी तनिक ध्यान दीजिये—

खुसरो रैनि सुहाग की, जागी पिय के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भये इक रंग॥

खुसरो की बनाई हुई 'ख़ालिक़बारी' अब भी उर्दू मकतबों में कहीं कहीं बच्चों को विद्याभ्यास के प्रारम्भ में याद कराई जाती है। कुछ नमूने देखिये—

खालिक़बारी सिरजनहार।
वाहिद एक बिदा करतार ॥
मुश्क काफ़ूर अस्त कस्तूरी कपूर।
हिन्दवी आनन्द शादी औ सरूर ॥
गंदुम गेहूं न.खूद चना शाली है धान।
जरत जोन्हरी अदस मसूर बर्ग है पान ॥

क्या यह भाषा चंद की भाषा का ६० वर्ष पश्चात् परिवर्तित रूप जान पड़ती है? ६०० वर्ष बाद भी यह खुसरो की कविता आज हमारी आधुनिक खड़ी बोली की कविता सी ही है। ब्रजभाषा का उत्कर्ष-काल खुसरो के बहुत पीछे का है। हिन्दी काव्य के सिरमौर कबीरदास जी की भी कविता का बहुत अंश खड़ी बोली से ही मिलता जुलता है, यद्यपि ब्रज, अवधी और विहारी भाषाओं का भी उसमें समावेश है।

इन साहित्यिक उदाहरणों से भी वही बात सिद्ध होती है जो मैं ऊपर कह आया हूं, अर्थात् यह कि चंद की भाषा, ब्रजभाषा और खड़ी बोली का स्रोत अपभ्रंश भाषाओं से अलग अलग निकला और अलग अलग प्रवाहित हुआ। स्रोत की उपमा पूरी घटित नहीं होती, क्योंकि एक स्रोत दूसरे स्रोत से अलग होकर प्रायः फिर एक दूसरे से नहीं मिलते, किन्तु उपमा के मुख्य अंग को सामने रखते हुए भी भाषाओं के संबन्ध में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि उसका एक दूसरे पर प्रभाव बराबर पड़ता रहता है। जिस प्रकार चंद की भाषा का जन्मस्थान राजपूताना और ब्रजभाषा का ब्रज कहा जा सकता है, उसी प्रकार खड़ी बोली का जन्मस्थान ब्रज के आस पास मेरठ ज़िले की भूमि कही जा सकती है। सदा काव्यों से जनता की भाषा का अनुमान भी नहीं हो सकता, क्योंकि काव्य प्रायः प्रथानुसार कृत्रिम भाषा में भी रचे जाते हैं। उदाहरण के लिये यही देखिये कि जिस समय ब्रजभाषा का उत्कर्ष था, प्रायः उन कवियों ने भी, जिनकी मातृभाषा

ब्रजभाषा नहीं थी, उसी भाषा को काव्य-भाषा मान कर उसी में कविता की। ब्रजभाषा यद्यपि एक प्रकार से हिन्दी-भाषा-भाषी मात्र की बहुत दिनों तक कविता की भाषा मानी हुई थी, तथापि सिवाय ब्रज के वह बोलचाल की भाषा कहीं नहीं हुई। बोलचाल की भाषा के सम्बन्ध में आदर्श खड़ी बोली की ओर ही झुकता गया। इसमें मुसलमानों का भी बहुत हाथ था। मुसलमानों ने हिन्दी के सांचे में ढालकर जो फ़ारसी और अरबी शब्दों की सहायता से एक नये प्रकार की भाषा का ढंग निकाला और चलाया, उसका सांचा खड़ी बोली का ही था। उस भाषा ने भी हिन्दी के रूप के स्थिर होने में सहायता दी।

हिन्दी और उर्दू।

आज हिन्दी और उर्दू दो भिन्न सभ्यता की सूचक भाषाएं बन गयी हैं। इनका धार्मिक प्रोत्साहन भी भिन्न उपमाओं और रूपकों और भिन्न दिव्य पुरुषों द्वारा होता है। किन्तु वास्तव में, भाषा का आधार एक ही है, और अभी यह दोना स्रोत इतनी दूर एक दूसरे से नहीं हुए हैं कि फिर मिलकर एक प्रबल धारा में परिणत हो भारतवर्ष भर को अपनी शक्ति से उर्वरा कर सुसज्जित न कर दें। मुझे तो आधुनिक हिन्दी और उर्दू भाषाओं के पोषक देश-भक्तों का यही तात्कालिक कर्त्तव्य जान पड़ता है। कुछ हिन्दी-प्रेमी मेरे इस कथन को सुनकर, संभव है, भयभीत हों और समझें कि मैं हिन्दी भाषा के रूप को विकृत करने की सम्मति दे रहा हूं, और यह कहें कि इस प्रकार के विकृत रूप में न हिन्दी भाषा का माधुर्य्य, न प्रसाद और न प्रौढ़ता ही रह जायगी। मैं ऊपर नाश और विकास का सिद्धान्त कह आया हूं। हिन्दी भाषा के आधुनिक रूप के विकृत होने से उसकी गति रुक जायगी, यह मैं नहीं मानता। प्रतिभाशाली कवि और प्रौढ़ लेखक उस हिन्दी और उर्दू की मिली हुई भाषा में भी वही शक्ति उत्पन्न कर देंगे जो सदा आपको अपभ्रष्ट किन्तु जीवित भाषाओं में मिलती आयी है।

साहित्य।

यहां तक मैंने कुछ भाषा-सम्बन्धी मीमांसा की। अब मैं कुछ शब्द हिन्दी-साहित्य के विषय में निवेदन करूंगा। साहित्य क्या है ? मनुष्य के भावों का शाब्दिक चित्र। ईश्वरी शक्ति की सब से अनूठी रचना, जो संसार में हमें दिखाई पड़ती है, स्वयं मनुष्य है। मनुष्य में सब से उत्तम और विचित्र वस्तु उसके भाव हैं। भावों को व्यंजित करने के कई मार्ग हैं, किन्तु उनके लिये सब से श्रेष्ठ दर्पण शब्द ही है। शब्द सृष्टि का आधार है और जितने ही अंश में मनुष्य उस मुख्य शक्ति का सहारा लेने का सामर्थ्य रखता है, उतना ही वह श्रेष्ठ है और सृष्टि के केन्द्र के समीप पहुंचता है। शब्द के बारे में बाइबिल में कहा है कि "वह ईश्वर के साथ था और स्वयं ईश्वर था।" The Word was with God and the Word was God" हमारे देश के महात्माओं ने भी शब्द ही को सृष्टि का मूलतत्व माना है। शब्द के सहारे ही समस्त ब्रह्माण्ड का विकास बताया है। इसीलिए मनुष्य जितना ही अधिक शब्द की शक्ति का परिचय पाता है उतना ही वह ज्ञानी होता है, जितना ही अधिक उसके रहस्यपूर्ण अमृत को वह चखता है, उतना ही श्रेष्ठ कवि होता है। संसार में यों तो हम प्रतिक्षण शब्द कहते हैं और सुनते हैं, किन्तु उसके वास्तविक रहस्य की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। इतना तो फिर भी हम वाह्यरूप से देख ही सकते हैं कि हमारे इस आधिभौतिक जगत् का वर्त्तमान रूप, उसका कई लाख वर्षों का उत्थान, उसकी

सारी स्थिति शब्द ही के सहारे है। जो महात्मा इस आधिभौतिक जगत् के परे का हाल जानते हैं, उनको वाणी से तो शब्द की महिमा पग पग पर प्रकट होती ही है, किन्तु हम साधारण जन भी, जिनकी परिमित बुद्धि और नेत्रों की ज्योति इस भूमण्डल के स्थूल पदार्थों के अंधकार में से ऊपर की कुछ भी बातें नहीं देख सकती, इतना अवश्य देखते हैं कि अपने बुद्धि-क्षेत्र की सीमा के भीतर भी हमारा सब कार्य्य तथा कार्यों के कारण और परिणाम शब्द की ही शक्ति पर निर्भर हैं। इसीलिए पृथ्वी के आदि काल से जिन महापुरुषों ने शब्द अथवा वाणी की उपासना की, उन्होंने ही अपने तपोबल से इस जगत् के उत्थान में सब से अधिक सहायता की है और वे ही जनता के पूज्य और प्रेम-पात्र होते आये हैं। हमारे यहां तो स्वतः शब्द को प्राचीन ऋषियों ने इतना पवित्र माना कि ब्रह्म को भी शब्द अथवा नाद-स्वरूप बताया। शब्द की पवित्रता को ही अछूत रखने के लिए उन्होंने वेदों को मनुष्य के मुख से निकला हुआ नहीं किन्तु "स्वतः शब्दित" बताया हमारे महापुरुषों में, जिनकी वाणी में असाधारण शक्ति थी, वही अवतार कहलाये। इसमें भी सन्देह नहीं कि महापुरुषों के अतिरिक्त भी कुछ निम्न-श्रेणी के मनुष्यों की वाणी में शक्ति हो सकती है और होती है। ईश्वरीय अंश तो सभी विराजमान हैं, साधारण मनुष्य के हृदय से भी वह कभी कभी विचित्र और अलौकिक रीति से प्रकट हो जाती है। इन्हीं महापुरुषों और असाधारण पुरुषों के गंभीर शब्दोंके समूह का नाम साहित्य है। साहित्य में डूबना मानो सृष्टि के आदि स्रोत में डूबना है। किन्तु हरेक अपनी शक्ति के अनुसार ही उस स्रोत में विहार का आनंद और लाभ उठा सकता है। मधुकर सुगंधित वृक्षों के वन में नित्य पराग चखते हुए भी वन के समस्त पुष्पों का आनंद नहीं उठा सकता। उसकी तृप्ति तो थोड़े ही से फूलों से हो जाती है। संसार-साहित्य भी अपरिमित और अखंडित उच्च सुगंधित भावों का कानन है। उसके कुछ ही अंशों में मनुष्य पैठ सकता है। वह आनंद तो थोड़े ही अंश से उठाता है, किन्तु उसके तारतम्य का वह अनुभव कर सकता है। इस अनुभव में भी एक अद्भुत आनंद है। इस बात का ज्ञान कि जिस वन में हम विहार कर रहे हैं वह अपार है, उसमें हमारे से लाखों जीव हरदम विहार करते हैं, हमसे पहले असंख्य जीव वहां विहार कर चुके हैं और हमारे पीछे भी करेंगे, इसमें भी एक अद्भुत चमत्कार है। हम अकेले नहीं हैं, एक महान् कुटुम्ब के वंशज हैं, हमारा सम्बन्ध सृष्टि के आदि से आजतक है और जो आगे आवेगा उससे भी रहेगा, हम में ही भूत और भविष्य का मिलान होता है, इसमें भी अद्भुत आत्म-गौरव है। इसीलिये सचमुच वह भाग्यवान् है जो इस अपार साहित्यवन के किसी भी भाग में कल्लोल करता है। जिस शिक्षा ने इस अद्भुत वन में प्रविष्ट ही न कराया वह निरर्थक है। जिस मनुष्य ने इसका दर्शन न किया और जो इसके सुरभित फूलों को महक से मस्त न हुआ, उसका जीना वृथा है।

साहित्य-कानन।

हिन्दी-साहित्य भी संसार-साहित्य का एक अंग है। वही हमारे समीप और हमारा विहारस्थल है। चिरपरिचय के कारण उसके अनेक स्थल हमें अति प्रिय हैं, और हमारे जीवन में समय समय पर हमें शीतलता देते रहते हैं। यहां सभी प्रकार के चित्रविचित्र वृक्ष हैं और कुछ तो ऐसे हैं कि यदि आपको इस हिन्दी के अंश के अतिरिक्त साहित्य-वन के अन्य अंशों में घूमने का सौभाग्य हो तो वहां भी उनकी तुलना न हो सकेगी। अहह! क्या सुन्दर समूह है! एक ओर कबीर,

मीरा, दादू, सुन्दरदास का वाणी-विकास है, पास ही सूर, तुलसी, नन्ददास, हितहरिवंश की पवित्र ध्वनि गूँज रही है। आइये, दिव्य दृष्टि की भिक्षा लेकर थोड़ी देर के लिये तो आइये। देखिये, कितने भक्त जनों के वृन्द इन वाणियों के साथ आनन्द में मतवाले होकर नृत्य कर रहे हैं और स्वयं उनके स्वर में स्वर मिला इस दैवीगान को कितना विशाल बना रहे हैं। क्यों ? आपको भी कुछ सुनाई पड़ रहा है? ध्यानावस्थित होइये, तभी सुन पड़ेगा। अथवा आपका ध्यान कुछ दूसरे ही स्वरों पर मुग्ध है, जो देव, विहारी, मतिराम, सेनापति, पद्माकर ठाकुर, पजनेश के समूह से आ रहे हैं? इन स्वरों में भी अद्भुत आकर्षण है। बधिक की वीणा के समान हमारे मन-मृग को स्तंभित कर घसीटे लिए जा रहे हैं, किन्तु रोकिए! अपने को सँभालिए! अभी दूसरी ओर की दैवी-वाणी का आनन्द आपने समझा ही नहीं। यदि आप कबीर और सूर के समूहों की ध्वनि में मस्त नहीं हो सकते, तो भी अपने को देव और मतिराम के स्वरों में भुला न दीजिये। इधर भी क्या आपकी दृष्टि पड़ी? देखिए, भूषण, लाल और सूदन का कैसा गंभीर रणनाद हो रहा है! क्यों, क्या इससे आप भयभीत हो रहे हैं? बहुत दिनों से आप इधर आये ही नहीं। इस नाद में क्या ही आनन्द है! यह नाद है तो कर्कश, किन्तु इसमें भी अद्भुत आनन्द है। मैं देखता हूं, आप बार बार देव और मतिराम ही की ओर झुकते हैं। बहुत पुराना अभ्यास पड़ गया है। आपने तो इस साहित्य-वन में जान पड़ता है, केवल इन्हीं के स्वरों में आनन्द लेना सीखा है। किन्तु अभी आपने इस वन के उत्तुङ्ग गगनस्पर्शी वृक्षों के दर्शन ही नहीं किये अथवा उधर आंख गयी भी तो उन की स्थिति को पहचान ही न सके। अच्छा! दूसरी ओर देखिये। रहिमन, वृन्द, गिरिधर—इनकी तो सूक्तियां आप को अवश्य रिझा सकती हैं। ओहो! किधर किधर देखें, चारो ओर रंगीलापन, माधुर्य और आनन्द ही तो दिखायी पड़ता है। हम तो चलते चलते थोड़ी दूर चले गये थे! यहां तो हमारे पास ही हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण, पूर्ण और सत्यनारायण अपनी मस्तानी तान सुना रहे हैं। क्यों, थोड़ी देर बैठ क्यों न जांय।

वाह वाह! यह तो कुछ एक और ही गुल खिल गया। हमारे साथ ही भ्रमण करनेवाले मित्रों ने इस साहित्य-वन में प्रतिभान्वित हो कैसा मनोहरण और ओजस्वी गान आरम्भ कर दिया! पूज्य पाठक जी को इस वन का एक उजड़ा हुआ कोना ही पसंद है। वहीं एकान्त में बैठे हुए वह भारतगीत से श्रोताओं का मनोविनोद कर रहे हैं। श्रद्धेय अयोध्या सिंहजी हम से कुछ अलग ही हट कर अपने प्रवासी प्रियतम की खोज में करुण-नाद कर हमारे चित्त को विह्वल कर रहे हैं। पास ही शंकर जी अपने डमरू के स्वरों के साथ संसार की जितनी कुरीतियां हैं, उनको भस्म करने के लिए अपना तीसरा नेत्र खोले नृत्य कर रहे हैं। साधारण आदमी तो उनके पास जाते भयभीत होता है, किन्तु पास से देखिये तो, इस तेजस्विता में भी सहृदयता और कोमलता है। और भी पास दीन जी सूक्ति-सर में लीन हो रहे हैं, और वियोगी हरिजी अपने प्रियतम के वियोग से दुखी करुण स्वर में उसका गान करते अष्टछाप के कवियों की याद दिलाते हैं। किन्तु है! यह क्या ध्वनि आयी! यह तो बिलकुल ही विचित्र है। यह तो किसी नयी रागिनी की उत्पत्ति जान पड़ती है। वाह! इसमें तो अधिकतर हमारे निजी मित्रगण ही सम्मिलित हैं। एक ओर मैथिलीशरण जी भारत-भारती की आरती उतार रहे हैं।

इसी समूह में दूसरी ओर रामनरेशजी ईश्वर से भारतवर्ष में ऐसे पथिक भेजने की प्रार्थना कर रहे हैं जो केवल अपने सतोगुण से, बिना रजोगुण और तमोगुण का सहारा लिये, भारत का उद्धार करें। ईश्वर ने तो अपनी प्रकृति में तीनों गुणों का ही मिश्रण किया है और इस पृथ्वी-स्थल को तो, जान पड़ता है, रजोगुण-व्याप्त ही बनाया है। वह त्रिपाठी जी के गान से मोहित हो कहाँ तक अपने नियमों को बदल देगा, इसका मुझे कौतूहल है। तो भी तान तो अद्भुत ही छेड़ी! इन्हीं मित्रों के पास माखनलालजी भारतीय आत्मा की करुणा और ओज भरी गाथा से और त्रिशूल जी अपने प्रबल शस्त्र का सहारा दे सोई हुई जनता को जगाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसी प्रयत्न में माधव शुक्लजी भी उन का साथ दे स्वतन्त्रता देवी का यशकीर्त्तन कर रहे हैं। भारतवर्ष के नवयुवक आज इसी गान को ध्यान से सुन रहे हैं। किन्तु कुछ चुप से हैं। मैं तो ध्यान लगाये आसरा देख रहा हूं कि वे कब इसी गान के स्वर में स्वयं स्वर मिला इसी शक्तिशालिनी देवी के उपासक बनेंगे।

यहां का तो विचित्र दृश्य है! इस वन में तो चारों ओर जीवित वाणियां हैं। किधर देखें, किधर सुनें — यहां तो आनन्द से नाचने को जी चाहता है।

किन्तु वाह! इस वन के एक अंश पर तो मेरा ध्यान ही नहीं गया। यहां तो गान करनेवालों के अतिरिक्त गंभीर विचारों में लीन अपने ओजस्वी शब्दों में शिक्षा देनेवाले अथवा ब्रह्माण्ड का अन्वेषण तथा प्राचीन इतिहास का वर्णन करनेवाले विद्वज्जन विराजमान हैं। कुछ विद्वज्जन ऐसे भी हैं, जो इस साहित्य-वन के गान का आनन्द उठाते हुए इसी की कथा औरों को सुना रहे हैं। यहां शिवसिंह सेंगर, लल्लूलालजी, राजा शिवप्रसाद, बालकृष्ण भट्ट, तोताराम, सुधाकर द्विवेदी, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास आदि प्रतिभाशाली व्याख्याता गंभीर, किन्तु आनन्दपूर्ण, भाव से उपस्थित हैं। निकट ही श्रद्धेय महावीरप्रसाद द्विवेदी, गोविन्द नारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी के दर्शन हो रहे हैं। अहा! द्विवेदीजी किस प्रकार गंभीर शब्दों से सरस्वती का आह्वान कर हिन्दी भाषी युवक मण्डली को उसके दर्शन करने का निमन्त्रण दे रहे हैं। और भी पास मिश्रबन्धु इस वन के अन्वेषण की कथा सुना लोगों को यहां भ्रमण करने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं, और मेरे मित्र रामदास गौड़ समस्त ब्रह्माण्ड के वैज्ञानिक रूप का दिग्दर्शन करा रहे हैं। समीप ही जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, कामता प्रसाद गुरु, अम्बिका प्रसाद बाजपेयी इस साहित्य-वन की रचना-शैली पर आश्चर्य के साथ विचार कर रहे हैं। यहीं माधवराव सप्रे, अमृतलाल चक्रवर्ती इस महावन के अन्य अंशों का फ़ोटो लिये हुए हिन्दी भाषियों को दिखा रहे हैं।

वाह! यहां तो घूमते घूमते श्यामसुन्दरदास जी भी आ गये। आपको इस वन के दर्शनमात्र के आनन्द से ही तृप्ति नहीं हुई, आप यहां के न केवल इस हिन्दी अंश का किन्तु अङ्गरेज़ी अंश का भी आलोचन कर ओजस्वी शब्दों में अपने मत की व्याख्या कर रहे हैं। हैं! यह तो आज एक और नया आनन्द हुआ। पद्मसिंह जी भी यहां आ विराजे। आप तो विहारी पर लट्टू हो रहे हैं। विहारी का इसी वन में गान सुनते सुनते, जान पड़ता है, आप को यह भ्रम हो गया कि विहारी की वाणी की शक्ति कुछ क्षीण हो गयी। इसीलिये आप तुरन्त दौड़ कर संजीवनी बूटी लेकर आये हैं, और स्वयं भी विहारी की तान पर ताल देकर उसको अधिक रोचक रूप में दरसाने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु वाह! आपने कैसी गूंज डाल दी! लोग तो एक क्षण के लिये इस रागिनी

को भी मूल साज़िन्दे के बाजे को ही सुन रहे हैं। धन्य है वह साज़िन्दा ! उसका आज सत्कार उचित ही है ।

इस वन का आज दौड़ादौड़ में अणुमात्र को ही सही, दर्शन तो हो गया । बहुत सी माधुर्य-पूर्ण कुञ्जों और बहुत-से गम्भीर व्याख्याताओं के आश्रमों में तो मेरी आंख भी नहीं गयी । इस भागा-भाग में देख ही क्या सकता था ? यह तो संसारी झंझटों से अच्छा अवकाश मिलने पर ही सन्तोष के साथ हो सकता था किन्तु मुझ ऐसे कीच में पड़े हुए मनुष्य को क्षणमात्र का भी दर्शन बहुत है इस के पास आकर चित्त तो यही चाहता है कि यहीं की लता-कुञ्जों में घूमता रहूं और यहां के गम्भीर दैवी गीत तथा शिक्षा-प्रद सदुपदेश सुना करूं । सब समूहों को देखकर भी बार बार कबीर और दादू , सूर और तुलसी— इन्हीं के अलौकिक नाद सुनने को जी चाहता है। मुझे तो इन के ओजस्वी नाद के समान, न केवल वन के इस अंश में किन्तु अन्य वंशों में भी जिन का किसी समय मैं अवलोकन किया है, कोई सुनायी न दिया । और फिर कबीर का तो कहना ही क्या ! अन्य कवि तो सांसारिक बातों की चर्चा करते हैं , शब्द-चातुरी और स्वकल्पित रस-माधुरी में मुग्ध होते हैं अथवा कुछ ऊपर की कहते हैं , तो सुनी सुनायी, किन्तु कबीर के नाद को तो सुनते सुनते यह जान पड़ता है कि आंख के देखे हुए रहस्य की कोई वार्ता कर रहा है। एक बार इस वन के दूसरे अंश में मौलाना रूम के दर्शन हुए थे। उनके गान से भी मैं दङ्ग हो गया था, क्योंकि उस ओर की वन-वीथियां मेरी अधिक परिचित न थीं और न वहां उस प्रकार के गान सुनने की कभी मुझे आशा थी, किन्तु मौलाना रूम के 'नय' के स्वरों ने मुझे अपने पूर्वपरिचित कबीर की आकाश से उतरी हुई ध्वनि की याद दिला दी थी। आपका झुकाव कदाचित् किसी और ही तरफ है ! खैर ! जाने दीजिये । आप तो मुझसे हर तरह से श्रेष्ठ हैं और भाग्यवान हैं कि आप इस आनन्द-कानन में विहार तो करते रहते हैं । मेरे तो भाग्य में इस आनन्द का बहुत ही कम अंश लिखा है । इस समय भी अपने को भूल कर सुचित हो सैर नहीं कर सकता । इस कानन से विदा होकर शीघ्र ही साधारण काम में प्रस्तुत होता हूं । किन्तु इसी कानन में घूमते हुए एक ज्योतिर्मय मूर्ति ने, जिसे मैं पहचान नहीं सका, आपको सुनाने के हेतु एक सन्देसा भेजा है , उसे पहले सुना देता हूं—

संदेश ।

"साहित्य-कानन के इस अंश में बड़े बड़े तेजस्वी पुरुषों की वाणी की झनकार हो रही है , किन्तु अब भी बहुत स्थान ऐसे हैं जहाँ नये नये प्रतिभाशाली गायकों और व्याख्याताओं के बसने की आवश्यकता है । यह समय भारतवर्ष के लिये महा परिवर्तन और बड़े महत्व का है । यही आप का अवसर है । मनुष्य के और देश के भाग्य में ऐसे अवसर बार बार नहीं आते, जब वह अपने विचारों और कृत्यों से संसार का मानसिक प्रवाह बदल दे । आप को बड़े सौभाग्य से यह अवसर प्राप्त हुआ है । आप न केवल साहित्य-कानन के इस अंश के इन रिक्त स्थानों को ले सकते हैं , किन्तु यहां नितान्त नये नादों से विप्लव मचा सकते हैं । सबसे पहिली बात यह स्मरण रखिये कि यों तो इस वन में सभी तरह की मोहिनी ध्वनियां गूंज रही हैं , किन्तु वास्तविक आदर उन्हीं को मिलता है , जो अकृत्रिम रूप से ब्रह्माण्ड के नैसर्गिक सङ्गीत के स्वरों में मिलकर ध्वनित होती हैं । कृत्रिमता छोड़िए, भावुकता संग्रह कीजिए । सूर्य की नैसर्गिक ज्योति का सौन्दर्य पहाड़ों और जङ्गलों में स्वतः दिखायी पड़ता है । हरे, लाल और पीले काँच के टुकड़ों को उसे

आवश्यकता नहीं। बिजली की ज्योति को सुन्दर बनाने के लिए आप भले ही अपने काँच के टुकड़े भिन्न भिन्न रङ्गों से रँगें और उनको भिन्न भिन्न आभूषणों से भूषित करें, किन्तु सूर्य की ज्योति इन कृत्रिम आभूषणों का तिरस्कार करती है। आभूषणों की आवश्यकता, कवियों के चलने के अनुसार भी, परकीया नायिका को ही अधिक होती है। स्वकीया सती का शृङ्गार आभूषणों पर न निर्भर है और न उससे बढ़ता ही है। स्वाभाविकता ही उसका जौहर है —

पतिवरता मैली भली, गले कांच की पोत।
सब सखियन में यों दिपै, ज्यों रवि शशि की जोत॥

वाणी की सार्थकता इसी में है कि वह आकाश में सीढ़ी बांध कर मनुष्य को उस स्थान पर चढ़ा दे, जहां से ही वाणी का उद्गार हुआ है। यदि वाणी ने मनुष्य को लुभा कर नीचे कीच में घसीट कर डाल दिया तो उसका सौन्दर्य कुलटा का सौन्दर्य है, जो भोग-लिप्सकों के हृदय को क्षण भर के लिए भले ही लुभा लें, किन्तु जो उच्च पुरुषों के सामने आदर नहीं पाता। आप अपनी वाणी का ऊँचा आदर्श रखें। वह पवित्र कुल की पुत्री है, उसका शृङ्गार नैसर्गिक मालती और मल्लिका से ही कर उसका पूजन करें, सुनारों के भड़कीले आभूषणों को दूर ही रखें। भारतवर्ष के इस परिवर्तन-काल में ऐसे उपासकों की आवश्यकता है जो अपनी वाणी से स्वतन्त्रता का नाद देश में भर दें। नगर, ग्राम, जङ्गल और पहाड़ों से घृणित दुर्बलता और निर्वीर्यता को निकाल महाशक्ति की मूर्ति जनता के हृदय मे स्थापित कर उसके पवित्र पूजन के लिए नृत्य और गान करें। निस्सार और नीचे गिरानेवाले रसों और उन्हीं के समान पोच संचारी भावों, विभावों और अनुभावों को छोड़ दिव्य नये रसों का प्रादुर्भाव कीजिए, उनके उपयुक्त सञ्चारी भावों से उनको सञ्चरित कीजिए, उनके उपयुक्त विभावों से उनका पोषण कीजिये और तब उनके परिणाम-स्वरूप महत् अनुभावों का दर्शन कर कृतार्थ होइए। इस साहित्य-कानन में जो रिक्त स्थान है वहां इस समय ऐसे ही वीर प्रतिभा सम्पन्न आकाश-मार्ग-गामी कवियों की आवश्यकता है।"

— o —

द्वितीय दिवस।

गत दिवस की तरह बड़े समारोह के साथ सम्मेलन-कार्य्य प्रारम्भ हुआ। आदि में श्री पण्डित माधव शुक्ल ने "वन्देमातरम्" गान किया, जिसके पश्चात् विद्यार्थियों का गान हुआ। पुनः श्री पण्डित बालकृष्ण शर्मा ने "व्रजभाषा और खड़ी बोली" की कविता पढ़ी। इसके अनन्तर श्री रसिकेन्द्र ने "भारत का होगा भला"...इत्यादि पद पढ़ा जिस के अनन्तर श्री वियोगी हरि जी ने श्री राधाकृष्ण गोस्वामी का "व्रजभाषा और खड़ी बोली" पर निबन्ध सुनाया। तत्पश्चात् प्रधान मन्त्री महोदय ने बाहर से सहानुभूति के आये हुए तारों को सुनाया। फिर श्री पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र ने अपना "महाकवि देव" शीर्षक लेख पढ़ते हुए कहा—'सभापति महाशय और सज्जनो मेरे लिए यह पहला अवसर है कि आपके सामने बोलने के लिए उपस्थित हुआ हूं"। लेख के पढ़े जा चुकने के पश्चात् श्री लाला भगवानदीन ने कहा—"सभापति महाशय और सभ्य सज्जनगण, हमारे प्यारे मित्र मिश्र जी महाराज ने जो लेख अभी आपको पढ़ कर सुनाया है, उसमें कहीं कहीं जो यह शब्द आया है कि "एक विद्वान् ने ऐसा लिखा है एक समालोचक ने ऐसा लिखा है" उसका इशारा इस दीन की ओर है, (हँसी ध्वनि) आप लोगों को भ्रम न हो जाय इसी अभिप्राय से कुछ निवेदन करना चाहता हूं। शारदा में एक लेख मेरा निकला था जिसमें देव और बिहारी का कम्पैरिज़न करते हुए कुछ विचार अपना मैंने

प्रकट किया था और वह इसलिए किया गया था कि मिश्रबन्धुओं ने विहारी में भाषा की त्रुटियें दिखलायी थीं। मेरा कथन यह था कि 'अगर यह बात विहारी में है तो देव में भी है—मगर नवरत्न में इसका उल्लेख नहीं किया गया'। मैं तो दोनों कवियों को एक दृष्टि से देखता हूं—केवल इतना ही मुझे कहना है।" इसके बाद सभापति महोदयने पहला प्रस्ताव उपस्थित करते हुए कहा—"सज्जनो, अब जो प्रस्ताव विषय-निर्धारिणी-समिति ने नियत किया है वह आपकी स्वीकृति के लिये पेश करता हूं —

पहला प्रस्ताव कई एक पुरुषों की मृत्यु का है। मुझे विश्वास है कि आप सज्जन उसे सुनकर खड़े होकर स्वीकार करेंगे—"प्रस्ताव"—सबने खड़े होकर "स्वीकार किया।" दूसरा प्रस्ताव उपस्थित करते हुए श्री पण्डित बनारसीदास ने कहा—"श्री सभापति तथा उपस्थित सज्जनवृन्द, जो प्रस्ताव मुझे आपके सम्मुख उपस्थित करनेको दिया गया है वह इस प्रकार है—(दूसरा प्रस्ताव)—उपनिवेशों में हिन्दी-प्रचार के लिये जो कार्य अब तक हुआ है उसका श्रेय अधिकांश में महात्मा गान्धी को प्राप्त है। इसके बाद डाक्टर मणिराम जी, पण्डित तोताराम जी, पण्डित भवानीदयाल जी और भाई परमानन्द जी को है। यह आपने सुना होगा कि १९०३ में जब इण्डियन ओपिनियन नामक पत्र निकला तो उसमें महात्मा जी ने हिन्दी ही रक्खी परन्तु यह एक वर्ष से अधिक न चला। १९१४ में सत्याग्रह के समय में एक अंश हिन्दी का था लेकिन वह भी स्थिर रूप से न चल सका। तोताराम जी ने फ़िज़ी में ऐसा ही किया। भाई परमानन्द ने मोरिशसमें एक पत्र निकाला था, एक अब भी निकलता है। सब से अधिक प्रशंसनीय काम भाई भवानीदयाल जी कर रहे हैं—आपने सैकड़ों रुपये पास से ख़र्च किये हैं, वहाँ पत्र भी निकालते हैं, देश में जाते हैं और तरह तरह से काम करते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी स्त्री जगरानी देवी को आप याद करेंगे। इन्होंने अपना सर्वस्व देकर प्रवासी भाइयों में हिन्दी का प्रचार किया है। भाई भवानीदयाल जी इस काम में लगे हुए हैं। हम लोगों का भी इनके प्रति कुछ कर्त्तव्य है। बिना पुस्तकों और हिन्दी के पत्रों के वहां हिन्दी-प्रचार नहीं कर सकते। हम भाषा के प्रचार के लिये उत्साह देकर, आर्थिक सहायता देकर इस काम को कर सकते हैं। भाई परमानन्द ने इस विषय का अनुभव प्राप्त किया है और कहा है कि यदि राष्ट्रीयता का प्रचार २५ लाख भाइयों में हो सकता है तो हिन्दी द्वारा। जो उपनिवेशों में गये हैं वह पुराने हैं और हिन्दी बोल सकते हैं किन्तु लड़के यह भाषा नहीं बोलते। यदि २५ लाख भाइयों को अपने में मिलाना चाहते हैं और राष्ट्रीय सङ्गठन में उनकी सहायता लेना चाहते हैं तो उनकी सहायता से पहले उनके लिये काम करना चाहिये अगर काम नहीं करते और सौ वर्ष से गुलामी में फंसे हैं तो उनको ऐसा प्रस्ताव नहीं उपस्थित कर सकते हैं। जो हिन्दी पत्र काम कर रहे हैं उनको धन्यवाद देते हैं। जिन लोगों ने काम किया उन्हें धन्यवाद देते हैं और जब प्रवासी भाइयों से प्रार्थना करते हैं तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन केवल मौखिक सहायता से सन्तुष्ट न होगा—आर्थिक सहायता भी करेगा जैसा कुछ भाई कर भी रहे हैं। इन थोड़े शब्दों में मैं यह प्रस्ताव उपस्थित करता हूं"। प्रस्ताव का समर्थन करते हुए श्री लक्ष्मणनारायण जी गर्दे ने कहा—"सभापति महाशय और उपस्थित सज्जनो, पण्डित बनारसीदास ने आपके सामने जो प्रस्ताव उपस्थित किया है उसका मैं अनुमोदन करता हूं। इस प्रस्ताव में जो कुछ लिखा है वह आपके सामने है और मैं समझता हूं वह ध्यान में भी होगा—(प्रस्ताव)—दूसरे हिस्से में इसके यह है कि अन्यान्य स्थानों में जैसे ट्रीनीदाद,

फीजी, दक्षिणी अफ्रीका में भी हिन्दी का प्रचार हो। इस सम्बन्ध में अब तक जो कार्रवाई हुई है–जिन्होंने कार्य किया है उसको चतुर्वेदी ने आपके सामने रक्खा है। मैं इस बात को भूल नहीं सकता कि प्रवासी लोगों के बारे में बनारसी दास जी बराबर आन्दोलन कर रहे हैं और भारत-वासियों को उपनिवेशों में रहनेवाले साथियों का हाल बतलाते रहते हैं। जो हमने सुना है वह आपके सामने रखता हूं। मुझे इसमें विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है किन्तु प्रस्ताव के पहले हिस्से में जो यह है कि-(प्रस्ताव)—दक्षिणी अफ्रीका में जो कार्य प्रवासी भाइयों ने किया है उसके लिये उनका आदर करते हैं। मैं आदर की व्याख्या करता हूं। सबसे पहले हमने क्या काम किया है। हिन्दी राष्ट्र भाषा हो सकती है या नहीं यह प्रश्न १०–२० वर्ष से हमारे सामने है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक प्रान्त के लोगों ने इसे स्वीकार कर लिया है कि भारत-वर्ष की भाषा राष्ट्रभाषा है और जो लोग अच्छी तरह समझते हैं वह जानते हैं कि हिन्दी राष्ट्र भाषा भारतवर्ष की है। परन्तु अब तक कार्य-सभा नहीं हुई है। इसका उत्तर ठीक तौर से दक्षिणी अफ्रीका के प्रवासी भाइयों ने दिया है कि भारतवर्ष की भाषा क्या है। जो अङ्गरेज़ी पढ़ते हैं चाहे वे मद्रासी हों, बङ्गाली या किसी प्रान्त के हों वे यहां आपस में अंग्रेजी का व्यवहार करते हैं—वे भूल जाते हैं कि भारतवर्ष की भाषा क्या है। दक्षिणी अफ्रीका के भाई और उपनिवेशों में ऐसा नहीं है। वहां किसी प्रान्त का आदमी हो आपस में हिन्दी का व्यवहार करता है। वहां तो यह प्रश्न ही नहीं उठता कि कौन भाषा किसकी है। वहां एक हिन्दी में बोलते हैं। हज़ारों आदमी जब भाषा के प्रयोग के लिये निकाले गये थे तो स्पष्ट हो गया कि जब वह इकट्ठा होते हैं तो एक भाषा में व्यवहार करते हैं। यहां के भिन्न २ प्रान्तों के लिये समझना चाहें तो उपनिवेश उदाहरण हैं हमको उन से शिक्षा लेनी चाहिये। उपनिवेशों के भाइयों ने सिद्ध कर दिया है कि लड़ाई में या मृत्यु में उनकी भाषा एक है और इसीलिये हम उनका आदर करते हैं, सम्मेलन भी उनका आदर करता है। किस योजना या आपत्ति से हमारे भाई उपनिवेशों में गये—डाक्टर साहब, महात्मा गांधी, भवानीदयाल जी इन सब में एक ही योजना या आपत्ति है। इसलिये हम आदर शब्द की व्याख्या करते हैं। इसके बाद जो प्रयत्न हुआ है उसके बारे में यह बतलाना चाहता हूं कि पण्डित बनारसीदास ने जो बतलाया है उससे ज्यादा मैं नहीं बतला सकता। परन्तु इतना कहूंगा कि जो यत्न दक्षिणी अफ्रीका में हुआ है उसका यश भवानीदयाल जी की स्त्री को है। किन्तु अन्यान्य स्थानों में जैसे मारिशस, फ़िजी आदि में जो पहले प्रचार हुआ, परन्तु आज नहीं है। उसका कारण यह है कि अवस्था बड़ी भयानक है। अवस्था को जाने बिना, उसका अर्थ समझे बिना काम नहीं हो सकता—वास्तव में अवस्था यह है कि जो भारतवासी उन भाइयों में कार्य करते हैं कि उनको सुधार सकें वे वहां से निकाल दिये जाते हैं। डाक्टर मनीलाल का किस्सा आपने सुना होगा कि कैसे वह फ़िजी और मारिशस से निकाले गये। इसका कारण यह है कि डाक्टर साहब उन लोगों में रहकर भारत-वासियों की अवस्था सुधारते थे, हिन्दी साहित्य की वृद्धि करते थे—ऐसी अवस्था है! इसलिये सम्मेलन को इसके लिये यत्न करना चाहिये। और अगर वह चाहता है कि इन स्थानों में भी हिन्दी का प्रचार हो तो उसे बनारसीदास जी के कहने को ध्यान में रख कर दो एक आदमी भेजना चाहिये जो अवस्था को देखकर सोचें कि कैसे काम होगा। फिजी का आन्तरिक स्वरूप

यह है कि वहां के रहनेवालों में नेता कोई नहीं है अधिकाँश मज़दूर हैं जो कारखाने या खेत में काम करते हैं। इसके सिवा कुछ नहीं । उनको इतनी अधिक मिहनत करनी पड़ती है कि जिस से अधिक आप सोच भी नहीं सकते। उन का नेता कोई नहीं तो भी वह अपनी भाषा की रक्षा करते हैं। डाक्टर साहब का हाल इसलिये बतलाया था कि जो देश-सेवा करता है वह वहां से निकाल दिया जाता है क्योंकि राजनैतिक विषय और समाज-सेवा को मिलाकर अब तक काम हुआ है। अगर यह काम सम्मेलन करे तो कठिनाई न होगी। अगर आप फ़िजी जायं तो देखेंगे कि वहां शिक्षा का प्रबन्ध नहीं है । सम्मेलन ने यह काम उठाया है कि प्रत्येक प्रान्त में एक विद्यापीठ हो—तो सज्जनो, वह भी एक प्रान्त है, हिन्दुस्तान का एक हिस्सा है। वहाँ भी विद्यापीठ खोलना हमारा कर्त्तव्य है—वहां की सन्तानों को शिक्षित करना हमारा काम होना चाहिये। इसलिये मैं इस प्रस्ताव का अनुमोदन करता हूं और एक बात और रखना चाहता हूं कि प्रवासी भारतवासी हमारे वह अङ्ग हैं जिन की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। और अन्य प्रान्तों के लिये जैसे विद्यापीठ का भार लिया है वैसे वहाँ भी करना चाहिये। इसी के साथ मैं प्रस्ताव का अनुमोदन करता हूं"। इसके पश्चात् श्री भवानीदयाल जी ने कहा—

"श्रीमान् सभापति महोदय तथा मेरे देश-बंधुओ, इस समय मैं इस प्रस्ताव का समर्थन करने के लिये उपस्थित नहीं हुआ हूं प्रत्युत इस विषय पर विशेष रूप से आपका ध्यान आकृष्ट करने के लिये कि जैसा गर्दे जी ने बतलाया है कि समस्त उपनिवेशों की राष्ट्रभाषा इस समय हिन्दी हो रही है, इसमें ज़रा भी अत्युक्ति नहीं है। आप दक्षिणी अफ्रीका में जांय, चाहे कहीं जाँय सर्व प्रान्त के प्रवासी भारतवासी मातृभाषा हिन्दी का प्रयोग करते हैं, ऐसा आप को देख पड़ेगा। आज जो भारतवर्ष के लिये एक बड़ा जटिल प्रश्न है उसे दक्षिण अफ्रीका और और उपनिवेशों ने हल कर दिया है! स्त्री और बच्चे सब हिन्दी में बात करते हैं और इस तरह जो लोग वहां गये उन्होंने राष्ट्र भाषा के प्रश्न को पूरा कर दिया, किसी तरह की कोशिश की आवश्यकता नहीं हुई। किन्तु अब प्रश्न यह है कि जैसे अँग्रेजी तालीम ने हिन्दुस्तान में ज़हर डाला है वैसे ही वहां भी हो रहा है। जो नवयुवक हो रहे हैं उनमें हिन्दी का लोप हो रहा है। बनारस के एक प्रोफेसर ने यह बतलाया है कि "हिन्दी जानते हुए आदमी आपस में अंग्रेज़ी में बातें करते हैं, अगर ध्यान न दिया गया तो वह हिन्दुस्तानी हिन्दुस्तानी न रह जाँयगे। जिस देश की मातृभाषा दूषित कर दी गयी उस की उन्नति में बाधा पड़ गयी यह समझ लेना चाहिये इसलिए दक्षिण अफ्रीका को आज़ाद करने का जो प्रस्ताव है उसके लिये वहां भी ठीक प्रबन्ध नहीं है। रात्रि-पाठशालाएं क़ायम की हैं, हिन्दी साहित्य सम्मेलन भी किया है। इसी तरह कुछ हिन्दी का प्रचार हो रहा है, किन्तु प्रश्न इस समय यह है कि जिस गति के साथ प्रचार उपनिवेशों में हो रहा है उसके हिसाब से आगामी १०।२० वर्ष में हिन्दुस्तानी हिन्दुस्तानी न रहेंगे। भाषा और भेष में जो परिवर्तन हो रहा है उससे यह आश्चर्य की बात नहीं है। जब ऐसी अवस्था है कि भाषा का परिवर्तन हो रहा है तो आप अपने अनुभव से कह सकते हैं कि हिन्दी की अवस्था क्या होगी। मातृभाषा हिन्दी की वहाँ आज विचित्र अवस्था है। नवयुवक अंग्रेज़ी में ही बात करते हैं, चाहे दोस्तों से हो या स्त्री से। यही हाल रहा तो २५ लाख भाई आपसे अलग हो जायंगे। यद्यपि इनमें देश-भक्ति बड़ी है भाई परमानन्द ने बतलाया है कि इन जगहों में पेट्रियाटिक बहुत थे और यह बात

ठीक है परन्तु ब्रिटिश गायना में आप जाइये तो मालूम होगा कि वहां के प्रवासियों का वेश ओर भाषा बदल गयी है आप अब उनको नहीं पा सकते। इसलिये यहां मातृभाषा के प्रचार की बड़ी ज़रूरत है। दक्षिण अफ्रीका के भाइयों ने आप से यह बात कहने के लिये मुझे भेजा है कि वहाँ जो इण्डियन आपकी भाषा का ध्यान करते हैं उसको सीखने को उत्सुक हैं उनके लिए ऐसा प्रबन्ध नहीं है कि मातृभाषा का ज्ञान प्राप्त कर सकें। अभी मेरे मित्र ने जैसा कहा है कि भिन्न भिन्न स्थानों में इसके प्रचार का यत्न किया जायगा। मैं खुले तौर से कह देना चाहता हूं कि १६०८ से अब तक जो धन मेरे पास था वह सब मातृभाषा की वेदी पर अर्पण कर दिया और अभी एक पत्र की आवश्यकता को अनुभव करते हुए पत्र भी निकाला है जो आज फिजी, साउथ और ईस्ट आफ्रीका की सेवा कर रहा है। इस प्रकार जो क्षेत्रों में काम कर रहे हैं—२० घण्टे काम करते हुए भी वह उन्नति को प्राप्त हो रहे हैं। ज्ञान सम्पादन करते हैं। इसलिए वह आप से चाहते हैं कि आप निराश न करें। ऐसा करने से सम्बन्ध बैठ जाता है। लेकिन अगर आप अपना सम्बन्ध रक्खेंगे तो एक नवीन अवस्था पैदा होगी। अधिक समय नहीं लूंगा क्योंकि और भी प्रस्ताव है। इस सम्बन्ध का यह प्रस्ताव ही प्रवासी भारत वासियों के लिये काफ़ी न होगा अगर आप चाहते हैं कि वे भाई जो आप से अलग हैं हिन्दी भाषा भाषी हों—अगर उनमें नवीन ज़िन्दगी प्रकट करना चाहते हैं तो आप इस प्रस्ताव को ज़बान से नहीं आत्मा से स्वीकृत कीजिए"। तत्पश्चात् सभापति ने प्रस्ताव पर सम्मति ली और प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। तदनन्तर तीसरा प्रस्ताव उपस्थित करते हुए श्री कृष्णकान्त मालवीयने कहा—

"सभापति महाशय, देवियो और सज्जनो, जिस प्रस्ताव को आपके सामने उपस्थित करने का भार मुझे सौंपा गया है वह ऐसा है—(प्रस्ताव नं० ३) जिस समय से इस प्रस्ताव को उपस्थित करने की सूचना मुझे मिली, निरन्तर कठिनाइयों और संकटों ने मेरे मार्ग को अवरुद्ध कर रक्खा है। इस प्रस्ताव के द्वारा मुझे आज्ञा यह दी गयी है कि मैं राष्ट्रीय महासभा के कर्णधारों को इस बात के लिए धन्यवाद दूं कि अपनी मातृभाषा के द्वारा उन्होंने कुछ कुछ काम करना आरम्भ कर दिया है। आप सोचें कि राष्ट्रीय महासभा के कर्णधारों को इस बात के लिए धन्यवाद देना कि राष्ट्रभाषा में उन्होंने कार्य करना आरम्भ कर दिया है यह भी कोई बात है। दूसरी कठिनाई जो मेरे मार्ग में है वह यह है कि इसकी उपयोगिता सिद्ध करूँ कि देश के उत्थान के लिये अपने देश की भाषा का उपयोग करना चाहिए। जो बात स्वयं सिद्ध होनी चाहिए, जिसकी उपयोगियता या आवश्यकता को सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए, जो बात सर्वमान्य होनी चाहिए उसके सिद्ध करने के लिए मैं कौन सी दलील आपके सामने उपस्थित कर सकता हूं। तीसरी कठिनाई जो मेरे मार्ग में है वह यह है कि उन्नति के इस काल में, सभ्यता और राजनीति के इस विकाशयुग में राष्ट्र के कर्णधारों से यह प्रार्थना की जाय कि राष्ट्र भाषा में राष्ट्र की कार्रवाई करें! यह बात तो एक वर्ष तक होनी चाहिए थी। किसी नेता को, किसी राजनैतिक क्षेत्र में कार्य करनेवाले को यह समझाना कि आप लोग अपने उद्देश्य में तब तक सिद्धि या सफलता नहीं प्राप्त कर सकते जब तक कि अपनी राष्ट्रभाषा के द्वारा अपने काम को नहीं करते, यह बतलाना कि इसकी उपयोगिता को किसी तरह समझ जाँय बड़ा कठिन कर्म है।

और कठिनाई जिसको देखना पड़ता है वह यह है जब उत्तरदायित्व की व्याख्या करने की आवश्यकता आती है। जिस समय कठिनाइयों पर विचार करना पड़ता है तो व्याख्यान देना कठिन हो जाता है। देखते हैं, यह छिपा नहीं है कि जिस समय राष्ट्रीय महासभा का जन्म हुआ, जिस समय देश में कांग्रेस का प्रधान अधिवेशन हुआ उस समय कांग्रेस में हिन्दी का, हमारी राष्ट्रभाषा का उतना आदर नहीं था जितना आदर आज दिन देख पड़ता है।

बात कुछ यह थी कि नई २ देशसेवा नई २ भाषा के बिना अपने पाण्डित्य बढ़ाने के लिए सम्भव न था और इसके साथ साथ इस बात को अनुभव करते हुए कि देश के भिन्न २ प्रान्त के उपस्थित् सब भाई हिन्दी भाषा भाषी नहीं थे, एक उपाय यही था कि वे उस भाषा के द्वारा काम करें जिस भाषा को अपने भाव को प्रकट करने के लिए वे आसानी से बोल सकते थे या जिस भाषा को भिन्न २ प्रान्त से आये हुए प्रतिनिधि सहज में समझ सकते थे। लेकिन जैसा कि आपने देखा है जब देश में जाग्रति हुई और जनता ने कांग्रेस को अपनाया तो जनता की भाषा का प्रभाव भी कांग्रेस पर पड़ गया। प्रार्थना तो वास्तव में इस प्रस्ताव द्वारा राष्ट्रीय महासभा के कर्णधारों से का गई है लेकिन मेरी प्रार्थना आप भाइयों से यह है कि जितनी अधिक संख्या में आप सब भाई कांग्रेस में योग देंगे, जिस उत्साह के साथ आप सब भाई कांग्रेस को अपनावेंगे, जिस तरह वास्तव में कांग्रेस को आप एक जीती जागती संस्था बनावेंगे तो आप देखेंगे कि इस कार्य की सफलता आप के बाँए हाथ का खेल है। आप लोगों ने देखा होगा कि पिछले तीन चार वर्षों से कांग्रेस में एक नया जीवन आ गया है। कहा जाता है और वास्तव में यह है भी कि माहात्मा गांधी ने इस असहयोग आन्दोलन से कांग्रेस को जीवनमय बना दिया है। आप जानते है कि माहात्मा जी ने इसके साथ यह भी किया है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा होनी चाहिए। इसका उद्देश्य यह है कि राष्ट्र-भाषा के बिना कांग्रेस जीती जागती संस्था नहीं रह सकती। इन्होंने कहा है कि राष्ट्रीय महासभा राष्ट्रीय महासभा नहीं यदि वह अपनी कार्रवाई राष्ट्रभाषा के द्वारा नहीं करती। आप समझिए, इस पर विचार कीजिए कि कैसे सम्भव है कि आप कार्य में सिद्धि प्राप्त कर सकें जब तक आप ने भाषा में भी स्वराज्य प्राप्त नहीं किया। जैसा कि श्रद्धेय द्विवेदी जी ने अपने वक्तव्य में कहा था कि सारे देश की विचार परम्परा में एकता रखने का कोई साधन नहीं है। देश की गुलामी को अगर आप दूर करना चाहते हैं तो पहले आवश्यक यह है कि उसकी भाषा की गुलामी को दूर कीजिये। इस भाषा के द्वारा ही इस स्वतन्त्र जाति ने हम लोगों के मस्तक पर विजय प्राप्त कर लिया है। अगर आप विजय प्राप्त करना चाहते हैं—अगर आप अपने देश में उसी तरह रहना चाहते हैं जिस तरह इङ्गलेण्ड में अंगरेज़ निवास करते हैं, जर्मनी में जर्मन लोग या अमेरिका में अमेरिकन भाई रहते हैं तो सर्व प्रधान आप लोगों को आवश्यकता यह है कि आप एक भाषा द्वारा जो देश की व्यापक भाषा हो अपना राष्ट्रीय काम किया करें। आप लोगों से छिपा नहीं है कि अपनी राष्ट्रभाषा की रक्षा के लिए आयरलेण्ड ने क्या क्या किया है। सच तो यह है कि इसी से आज यह अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर रहा है। अगर आप इतिहास को देखें, अगर आप इन राष्ट्रीय कर्मों की नीव पर नज़र डालें तो आप को मालूम होगा कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के समान उनकी गालिक भाषा के प्रचार ने वह काम किया है। आइरिश भाइयों

ने जिस समय स्वतन्त्रता प्राप्त करने का संकल्प किया उसी घड़ी उसने यह भी संकल्प किया कि वे अपनी राष्ट्रभाषा का उद्धार करेंगे। आप से यह भी छिपा नहीं है कि पोलेण्ड पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए रुशा ने क्या किया। किसी राष्ट्र पर प्रभाव जमाने का यह उपाय है कि उसके भाषा की हत्या कर डाली जाय। उसे उससे दूर कर दिया जाय जिसमें उसके पूर्वजों का संदेश सुनाई देता है। वह उस स्रोत से दूर कर दी जाय जिसकी धार में उसके पूर्वजों की सभ्यता लहलहाती नज़र आती है। युग में ऐसा कोई नहीं जो हिन्दी को राष्ट्र भाषा न माने — जब यह सिद्ध है तो उसका उद्धार अवश्य होना चाहिए, बिना राष्ट्र भाषा के उद्धार के राष्ट्र का उद्धार नहीं हो सकता। तो जो प्रार्थना आज आप लोगों की तरफ़ से राष्ट्रीय महासभा के कर्णधारों के लिए उपस्थित कर रहा हूं, वह अनावश्यक या अनुचित कही जा सकती है—मेरा तो कहना यह है जैसा कि अभी कह भी चुका हूं कि वह कांग्रेस तब तक जनता की कांग्रेस नहीं होगी जब तक कांग्रेस का कार्य सर्वथा जनता की भाषा के द्वारा न होगा।" प्रस्ताव का समर्थन करते हुए श्री माखनलाल ने कहा— "सभापति महाशय, देवियो, और भाइयो, उस समय मुझे बहुत घबड़ाहट होती है जब मैं प्रस्ताव पर बोलने को खड़ा होता हूं। बात यह नहीं है कि मैं डर गया या मेरा ज्ञान अधूरा है बल्कि असल बात यह कि मैं प्रस्तावों पर विश्वास कम करता हूं। ख़ास कर यह प्रस्ताव क्योंकि न तो इसका कोई मानी जान पड़ता है न आवश्यकता, इसलिए इसे आपके सामने रखते हुए मुझे संकोच होता है। यदि इस प्रस्ताव का स्वरूप साफ़ है तो उसको सामने रखने की कुछ आवश्यकता नहीं है। यह प्रस्ताव धन्यवाद का प्रस्ताव है। धन्यवाद के बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इसमें यह कहा गया है कि राष्ट्रीय महासभा ने जो पिछले कुछ वर्षों से अपने कर्तव्यपालन की ओर ध्यान दिया है उसके लिए उसे धन्यवाद देते हैं और अनुरोध करते हैं कि ऐसा ही करती रहे। इसके दो हिस्से हैं—पहले में धन्यवाद देते हैं कि राष्ट्रीय महासभा ने राष्ट्रभाषा में कुछ कार्य किया है। दूसरा यह है कि आप अनुरोध करते हैं कि बाकी कार्य्य भी हिन्दी में हो। इससे पहले कि मैं राष्ट्रीय महासभा को धन्यवाद दूं या अनुरोध करूं, मैं दो दो बातें आप से कर लेना आवश्यक समझता हूं। मैं आप से पूछता हूं कि क्या राष्ट्रीय महासभा से कुछ कहने का सामर्थ्य आप में है? आप राष्ट्रभाषा का ज्ञान रखते हैं? आपकी भाषा को समझने वाले २० करोड़ हैं, लेकिन क्या आप कह सकते हैं कि १० करोड़ या २० करोड़ प्रतिनिधियों का यह सम्मेलन है? आप अपने कार्य की दृढ़ता जानते हैं फिर ऐसा अनुरोध कैसे करते हैं। आपका यह प्रस्ताव निर्मूल होगा और मैं यह समझ रहा हूं कि जिसका नाम लेकर सम्मेलन अपने जीवन के दिन बतला रहा है, ज़माना परिवर्तित है और हिन्दी की आवाज़ चारों ओर गूंज रही है, हमारी भाषा दिन दिन बढ़ती जाती है तो इसमें हमारा प्रयत्न अधिक नहीं है हिन्दी भाषा की प्रेरणा जिस महान ऋषि ने भारतीय राष्ट्र के जन्मदाता ने की है वह हमारे उद्योग से नहीं। महात्मा गांधी के हृदय में किसी ने यह भाव नहीं भरा परन्तु यह इस भाषा की मृदुलता, महानता और श्रेष्ठता थी जिसने आकर्षित किया और यह सिद्ध किया कि राष्ट्रभाषा हिन्दी ही हो सकती है। मित्र एक बात आप और सोचिए, जैसा मेरे प्रिय आदरणीय भाई भवानीदयाल और बनारसीदास

ने कहा है कि आप की भाषा दूर देश में आदर पाती है। अगर मैं अपने देश को इस के लिए समझाऊँ तो आप बतलावें कहां तक उचित है, जिस भाषा में इतने उज्ज्वल कवि और मौलिक लेखक हैं, उसके लिए अब आप प्रयत्न करते हैं, यह सर्वथा निर्मूलक और यह प्रस्ताव प्रस्तावमात्र ही है। आप प्रयत्न करते हैं, अपने बाप दादों की महानता पर, किन्तु बीती बात पर गौरव हमको नहीं करना चाहिए, बाप दादों की बड़ाई पर बड़ा नहीं बनना चाहिए। यह तो कवियों का काम है। अगर आप राष्ट्रीय महासभा को इस वेदी पर निमन्त्रित करना चाहते हैं तो साहित्य को ऊंचा उठावें। आप देखते हैं कि अब ज़माना वह नहीं रहा—केवल महलों और वाटिकाओं के वर्णन से काम नहीं चलेगा। अब उसी साहित्य का आदर होगा जिस में जनता का इतिहास होगा। आप की भाषा को जाग्रति से यह मौका मिल गया है कि लोग इसको राष्ट्र भाषा करना चाहते हैं। अगर ज़माना न आता तो क्षमा करें ऐसा न हो सकता। आप यह निमन्त्रण तब दे सकते थे जब प्रजासत्तक रूप हमारे राष्ट्र का होता। राष्ट्रीय सभा के साथ अब तक मुझे खड़ा होने का अवसर मिला है। उसने आपकी भाषा को राष्ट्र भाषा मान लिया है--बिना किसी प्रस्ताव के मान लिया है कि अगर काम करना चाहते हैं तो जनता की भाषा को स्वीकार करें। जनता ने राष्ट्रीय महासभा को स्थान दिया है वैसे ही राष्ट्रीय महासभा ने जनता की भाषा को भी स्थान दिया है, आदरभाव से नहीं। मैं तो कहता हूं कि जब तक उन्होंने ऐसा नहीं किया था काम ठीक नहीं चला और तब यह अनुभव किया कि भारतवर्ष की भाषा बिना काम नहीं चल सकता। इसलिये लाचार होकर मस्तक झुकाया है। पस धन्यवाद तो नहीं दिया जाता, पर योग्यता है इसलिये धन्यवाद के अंश को मानता हूं। दूसरी बात अनुरोध की है। अनुरोध का समय आप के सामने जाग्रति का समय होगा। साहित्य की उन्नति का समय होगा। प्राचीन काल में, महाभारत काल में पुस्तक लिखनेवाले महर्षि व्यास थे। आज देश के दुर्भाग्य से, विशेष कर हिन्दीके दुर्भाग्य से साहित्य लिखने वाले बहुत परन्तु वर्धक नहीं हैं। इतिहास लेखकों की कमी है, उन में मनसूबा नहीं है, पुरुषोत्तमदास की तरह वे नहीं हैं। साहित्य का निर्माण कलमबन्दी से नहीं होता, तुक्कड़ लिखने से नहीं होता। हम में से कै आदमी ऐसे हैं जो कल से साहित्य-निर्माण नहीं करेंगे किन्तु साहित्य निर्माण करने-वालों को योग देंगे? अगर इस पर तैयार हैं तो आगामी १० वर्षों में देखेंगे कि संसारका मस्तक झुकता है, लेकिन अगर अलंकारों का ज़ोर रहा तो राष्ट्रीय महासभा से अनुरोध करने की आवश्यकता नहीं। अगर उससे छेड़छाड़ करना चाहते हैं तो क्षेत्र में उतरना होगा। सदा महापुरुष जनता के पीछे चलते हैं। उनको अपने पीछे चलानेका यत्न कीजिये। फ्राँस रूस आदि देशों में ऐसा है कि लोगों को देश के पीछे चलना पड़ता है। मैं तो कहूंगा कि आप साहित्य का ऐसा निर्माण करें कि जो मान्य हो। अगर ऐसा हुआ तो राष्ट्रीयसभा सब कार्य्य हिन्दी में करेगी।"

इसके बाद पं० हरिशंकर शर्मा का परिचय देते हुए सभापति ने कहा कि आप मदरास प्रांत के सब से पहिले विद्यार्थी हैं जो यहां सब से पहिले हिन्दी सीखने के लिये आये और जिन्होंने मद्रास में बराबर हिन्दी-प्रचार का काम किया है और कर रहे हैं। आप बड़े ही उत्साही और हिन्दी प्रेमी हैं। तत्पश्चात् तीसरे प्रस्ताव के सम्बन्ध में भाषण करते हुये पंडित हरिहर शर्मा ने कहा—"सभापति महोदय, भाई और बहिनों, मैं

स्वयं अपना परिचय देनेवाला था परन्तु अभी सभापति महोदय ने मेरा परिचय दे दिया इसलिए फिर अब मुझे क्षमा मांगने की जरूरत नहीं कि जब मैं बोलता हूं तो अशुद्धियें होती हैं। उन पर ध्यान न देकर भाव को समझिये और ज्यादा बोलजाऊं तो उसके लिये क्षमा करिये। प्रस्ताव आप सुन चुके हैं। इसमें जो धन्यवाद का प्रश्न है वह भली बात नहीं है। अगर कोई अपना काम करे तो उसके लिये धन्यवाद नहीं दिया जाता। पिछले कुछ वर्षों से अपने कर्तव्य पालन की ओर ध्यान दिया इसके लिये तो धन्यवाद देते हैं मगर जो इतने वर्षों से उसके पालन से विमुख रहे क्या उसके लिये दण्ड देंगे? मैं पहिले एक बात कहनेवाला था सो भूल गया। जो हिन्दी सीखने का सौभाग्य मुझे सम्मेलन से प्राप्त हुवा और जो पांच वर्ष से बराबर हिन्दी का प्रचार कर रहा हूं लेकिन जो इसके उत्सुक हैं उनको संतोष नहीं दे सका इसका। कारण यह है कि हिन्दी-भाषा-भाषियों को जो ध्यान इस ओर देना चाहिये था उन्होंने नहीं दिया। हिन्दी-भाषा-भाषियों का कर्तव्य है कि जनता को हिन्दी सीखने के लिये उत्साहित करें और सिखावें अगर वह ऐसा न करेंगे तो क्या सीखनेवाले जर्मनी में जायंगे? आज तो पांच वर्ष से हिन्दी का प्रचार दक्षिण भारत में हो रहा है। अब तक कुछ नहीं हुवा। अथवा हममें से जो हिन्दी सीखने के लिये उत्सुक हैं उनके लिये कौन २ लोग गये? इससे पहिले ही हिन्दी राष्ट्रभाषा हो गई अब की कांग्रेस आंध्र देश में होने वाली है। आपलोग जो वहां आवेंगे आप के भाषण को समझने के लिये लोग वहां उत्सुक हैं। लोग यत्न कर रहे हैं कि भाषा सीख लें जिसमें भाषा के कारण समझने में बाधा न पड़े। तो जो लोग कांग्रेस के थोड़े मास पहिले जाकर हिन्दी कार्य्यक्रम में रहना चाहते हैं आप उसके लिये क्या तैयारी कर रहे हैं? केवल प्रस्ताव पास करके क्या होगा? मैं पूछता हूं कितने लोग आंध्रदेश जाने को तैयार हैं। भाइयो! फिर भी प्रार्थना करता हूं आप लोग प्रस्ताव पास करके सो न जांय। मैं कुछ अधिक कहना नहीं चाहता, केवल इतना ही कहूंगा आपलोग प्रस्ताव पास करके चुप न बैठें। दक्षिण जाकर और आप के ऊपर जो कलंक का धब्बा है उसको दूर कीजिये।" इसके बाद श्री कोतवाल जी ने, जिनका परिचय देते हुये सभापति ने कहा कि आप महाराष्ट्र हैं, बड़े उत्साही हैं और पण्डित हरिहर शर्मा जी के साथ दक्षिण में हिन्दी का प्रचार कर रहे हैं कहा—" सभापति महोदय, देवियो भाईयो और वृद्धजन, मेरा थोड़ा सा परिचय सभापती महोदय ने दिया है इस से आप समझ सकते हैं मेरी स्वयं मातृभाषा हिन्दी नहीं है किन्तु मुझे हिन्दी का राष्ट्र भाषा होने के कारण पूरा अभिमान है और अपने देश महाराष्ट्र से अलग उसका प्रयोग करता हूं। आप मेरी भाषा में वे त्रुटियां पायंगे जो हमारी भाषा का हिन्दी से भेद है इसलिये ये प्रार्थना है कि त्रुटियों पर ध्यान न दें जो प्रस्ताव उपस्थित किया गया है उसमें यह है कि राष्ट्रीय महा सभा को धन्यवाद दें कि चालीस वर्ष अपने जन्म दिन से अब जब वह इस अवस्था में आई तब उसे अपने कर्तव्य की ओर ध्यान देने का सौभाग्य हुवा अगर राष्ट्रीय महासभा अपने कर्तव्य से परिचित नहीं थी तो क्या उसके लिए अभिमान करेगी। भले ही करे किन्तु मैं यह पूछूंगा इस प्रकार अभिमान करने के लिए अब लोग उसका निरीक्षण कर रहे हैं। अभिमान आप की आज्ञा पर कर सकते सम्मेलन का राजनैतिक विषय में हस्ताक्षेप क्या? किन्तु आज यह क्यों कहना पड़ता है। इसमें छिपाने की कोई बात नहीं। सम्मेलन अब यह समझ चुका है कि जैसे हिन्दी को उच्च स्थान में ले जाना चाहते हैं उसके लिए यह अवश्य करना होगा

हिन्दी राष्ट्रभाषा है उपभाषा नहीं रही। एक इतिहास मैंने पढ़ा है कि हिन्दी को हिन्दवी कहते थे। महाराष्ट्र में भी यह हिन्दवी कही जाती है और हिन्द के कारण हिन्दवी और स्वराज्य हिन्दवी कहा जाता है किन्तु अब वह हमारा देश नहीं। हमारा देश हिन्दुस्तान है और हिन्दी हमारी भाषा है। अब जनता की भाषा हो चुकी जिस पर उसका अधिकार है इस कारण अगर यह प्रस्ताव हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से हो रहा है, अगर वह समझते हैं कि यह सम्मेलन राष्ट्र भाषा भाषियों का है, अगर यह समझते हैं कि राष्ट्र भाषा हिन्दी साहित्य सम्मेलन है तो इसका जो अवसर आया है वह भी न आता। बारह बरस तक एक तपश्चर्या हुई जिस से यह फल हुआ है इसीलिए दूसरे पन्द्रह वर्ष के शुरुआत में पक्षपात हुआ है। हमने यह सोचा है कि हिन्दी-भाषा-भाषियों से सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु अब कुल राष्ट्र भाषा भाषियों से है अगर ऐसा है तो जो काम करना चाहते हैं वह ठीक है। आज यह एक तपश्चर्या को पूरा कर के राजनैतिक कार्य में पदार्पण कर रहे हैं। इसलिए मैं उनको धन्यवाद दूंगा और इसका नाम बदल कर राष्ट्र-भाषा सम्मेलन करना चाहते हैं इसलिये मैं यह समझता हूं जो प्रस्ताव रक्खा गया है वह इसलिये है कि हम लोग नैतिक पदार्पण कर रहे हैं। इसलिये मैं इसका अनुमोदन करता हूं और त्रुटियों के लिये क्षमा प्रार्थी हूं"। प्रस्ताव पास हुआ और चौथा प्रस्ताव उपस्थित करते हुए श्री पद्मसिंह शर्मा ने कहा—"सभापति महोदय, सज्जनों और देवियो, चौथा प्रस्ताव जिसे उपस्थित करने के लिये मुझे आज्ञा दी गई है (चौथा प्रस्ताव) यदि यह प्रस्ताव ऐसे सज्जन को सुपुर्द किया जाता जो इन देशों के होते तो अच्छा होता। किन्तु हमारे दुर्भाग्य से हमारी भाषा में समझ भी न सकेंगे इसलिये अच्छा यह होता कि कोई ऐसे सज्जन उपस्थित करते जो इनकी भाषा भी जानते और हिन्दी भी। यह प्रस्ताव मुझे पुरदर्द होता है। यह कोई नया प्रस्ताव नहीं है। बहुत दिनों से दीर्घदर्शी भारत के नेताओं ने इसे उपस्थित किया है। जहां तक मुझे मालूम है सबसे पहले महर्षि दयानन्द ने अनुभव करके आर्य-समाज के उप-नियमों में इसका निर्देश कर दिया है और आर्य भाषा का ज्ञान बतलाया है। वहां सर्वभौम हिन्दी की दृष्टि से उसको इस रूप में लिखा था। प्रातः स्मरणीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने भी जो यत्न किया वह छिपा नहीं है लेकिन दुर्भाग्य से इसकी ओर किसी ने ध्यान भी नहीं दिया। बार बार उपहास ही होता गया लेकिन जब ऐसी हालत में नेताओं ने उपस्थित किया तब मानने को तैयार हुये—एक दौर से तो निकले इस दौर से कुछ न बने—महात्मा गांधी ने जीवन मरण के प्रश्न को लेकर कि आप अगर विचार में एकता रखना चाहते हैं तो इसके लिये नितान्त आवश्यक है कि चारों ओर से इसको अपना लें इसलिए यह बड़ी आवश्यक बात है कि हमें प्रत्येक प्रान्त में जैसे कि मदरास में वा यहां जहां जो समझ नहीं सकते प्रचारक भेजकर प्रचार कियाजाय। पञ्जाब में भी प्रचार हो रहा है। कोई भाषा में भेद भी विशेष नहीं है। और जो प्रान्त हैं उनमें सुयोग्य विद्वान जो वहां की भी भाषा जानते हों भेजे जांय और सब को समझावें कि यह प्रश्न बड़ा आवश्यक है और अंग्रेज़ी भाषा को बदलने का अवसर है। बड़े दुर्भाग्य का विषय है कि जो भिन्न भाषा भाषी हैं जब उनसे कहा जाता है तो वे कहते हैं कि हम हिन्दी को उपमाता स्वीकार करते हैं। लेकिन कितने खेद की बात है कि अंग्रेज़ी जो विदेशी भाषा है और जिसका उच्चारण और लिखना पुरग़लत है उसमें पारङ्गत हो जाने पर भी लोग बहुत सी चूक करते हैं। और हिन्दी में जो ऐसी सुलभ है जो मद्रास के विद्यार्थी जो इसको सीख गये वैसा ही उच्चारण करते हैं जैसे यहां के लोग फिर भी जब हिन्दी के लिये

प्रार्थना की जाती है तो कहते हैं कि हम नहीं बोल सकते लेकिन यह प्रश्न ऐसे नहीं छोड़ा जा सकता। अगर राष्ट्र को उन्नत करना चाहते हैं और राष्ट्र में एक विचार फैलाना चाहते हैं तो आवश्यक है इन इन प्रदेशों में इसको स्थान दिया जाय—मुख्य समझ कर इसको माना जाय। महात्मा गांधी को धन्यवाद देना चाहता हूं कि उन्होंने इस पर सर्व साधारण को ध्यान दिलाया है"। इसके पश्चात् श्री जयचन्द विद्यालङ्कार ने कहा "सभापति महोदय, देवियो और सज्जनों, आप के सामने यह प्रस्ताव उपस्थित है कि यह सम्मेलन (चौथा प्रस्ताव) सज्जनों सच कहिये तो मैं इस की ज़रूरत नहीं समझता कि ऐसा प्रस्ताव सम्मेलन की ओर से हो—अनुचित है कि हिन्दी सम्मेलन नेताओं का ध्यान इस ओर खींचे। पहिले भी सरकार में जो इनकी क़दर कम हुई है उस पर भी जो ध्यान खींचना पड़े तो यह दुर्भाग्य की बात है अगर वह वह काम करते हैं जिसकी घोषणा करते हैं, अगर वास्तव में उन्हें स्वराज्य की आकांक्षा है तो उस भाषा को सीखें जिस से जनता में जा सकें। अगर हिन्दी सीख कर हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा जनता का उपकार करेंगे तो यह उनकी कृपा न होगी। हमारे राजनैतिक नेताओं ने सरकार के विरुद्ध चलना अपना धर्म मान लिया है क्योंकि देश के गवर्नमेण्ट लोगों के सुख दुख का विचार नहीं कर सकती। नेताओं का सरकार का विरोध भूल है जिससे कि सरकार की जड़ उखाड़ना चाहते हैं ये उनकी भूल है सज्जनो यह शब्द सुनने में कठोर है परन्तु मैं हृदय से कहता हूं और उसके लिये मैं एक घटना बताता हूं। लाहौर में आल इण्डिया ट्रेड यूनियन के जल्से को देखने का दुर्भाग्य मुझे हुआ। दस ग्यारह सौ आदमी इकट्ठे थे और दास महोदय जिनको सभी आदमी जानते हैं सभापति थे और अंग्रेज़ी में बोले और लाहौर के रहने वाले भी अंग्रेज़ी में बोले और जनता को धोका दिया। इस कठोर शब्द का प्रयोग इसलिये करना पड़ता है कि तीन बरस के बाद भी इन लोगों को होश नहीं हुआ। भला लाहौर के मज़दूरों ने अंग्रेज़ी में क्या समझा होगा। क्या यह लोग पच्चीस हज़ार मज़दूरों को अंग्रेज़ी सिखलाना चाहते हैं। नहीं नहीं बात यह है कि यह काम ही नहीं करना चाहते। सज्जनो अगर ऐसी बातें सर्वत्र नहीं की गईं तो फिर से उठने की आशा नहीं है। आप लोग इस प्रस्ताव के नतीजे को समझ कर नेताओं से प्रार्थना न करें बल्कि उन्हें रोकें जिसमें जो काम करना हो राष्ट्रभाषा में करें। मैंने आपके सामने पञ्जाब की जनता और नेताओं के लिये कठोर शब्दों का प्रयोग बड़े दुख के साथ किया है बात यह है कि जहां तामील देश में इतना अधिक प्रचार है वहां पञ्जाब में इतना कम देखकर मेरा जी जल जाता है। दो तीन नेताओं को छोड़कर बाकी जितनी उपेक्षा दृष्टि रखते हैं उतनी और कहीं नहीं पाई जाती। दूसरे जिन प्रान्तों का उल्लेख आपने किया है उनमें सबसे अधिक सुगमता से हिन्दी का प्रचार पञ्जाब में हो सकता है लेकिन पञ्जाब ही सब से सुस्त है पञ्जाब में इसका भाव प्रगट नहीं हुआ न यह राष्ट्रभाषा ही के रूप में वहां पाई जाती है।

हरएक प्रान्त की भाषा का कोई स्वरूप है परन्तु पंजाब में कोई नहीं। सब से बड़े स्कूल में सब से अधिक भाषा! यह अवस्था प्राइमरी स्कूलों से लेकर बड़े बड़े स्कूल और कालेजों तक है। वहां एक भाषा में एक नोटिस तक नहीं दे सकते। अङ्गरेज़ी हिन्दी, उर्दू, गुरुमुखी में लिखना पड़ता है। पंजाब सरकार कहती है कि पंजाब नये प्रस्ताव उपस्थित करता है। राष्ट्र के नेताओं को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ता है। हिन्दू-मुस्लिम यूनीटी या हिन्दी के राष्ट्रभाषा सम्बन्धी प्रश्न में पंजाब ही उपस्थित

होता है। अगर इन प्रश्नों को छोड़ दें तो पंजाब सब से आगे रहता है। अगर कोशिश की जाती तो पंजाब में राष्ट्रभाषा या पंजाब की भाषा का प्रश्न कठिन न होता मगर न सम्मेलन ने कोई काम किया न किसी दूसरे नेता ने, महात्मा गांधी ने समझा था कि पंजाब का भाषा सम्बन्धी प्रश्न कैसा महत्वपूर्ण है।" इसके बाद श्रीरमा-शंकर अवस्थी ने कहा- "मुझे जो कुछ कहना है वह सब माखन लाल जी कह गये इसलिये मैं यह सब न कह कर इसका समर्थन करता हूं। केवल इतना और कहना चाहता हूं कि अगर नेताओं के सामने आप हिन्दी का प्रश्न उपस्थित करते हैं तो प्रस्ताव ही पास करने से काम नहीं चलेगा। युग बदल गया है नये युग के साथ सम्मेलन को चलना पड़ेगा। आप के पुराने साहित्य से काम नहीं चलेगा। नये साहित्य को प्रकाशित करना पड़ेगा जिसमें इसको दूसरे प्रांत के लोग मजबूरन सीखें। अगर विहारी स्तोत्र का प्रचार न करके मोशिएलेलिन के सूत्रों का प्रचार किया जाय तब काम चले। मगर सम्मेलनन उसी पुरानी धार में बह रहा है। मेरा यह कहना है कि जब राजनैतिक पुस्तकें हिन्दी में लिखी जांयगी तब लोग इसे पढ़ेंगे। इन्हीं शब्दों के साथ मैं इसका समर्थन करता हूं।" प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और पांचवाँ प्रस्ताव उपस्थित करते हुए श्री जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने कहा—सभापति महोदय, उपस्थित सज्जन और देवियो, "सभापति महोदय, की आज्ञा से यह प्रस्ताव मैं आपके सामने उपस्थित करता हूं कि—(पांचवां प्रस्ताव)— यह प्रस्ताव ऐसा स्पष्ट और साफ़ है कि इस पर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। अगर मैं यह समझूँ कि आप यह नहीं समझ सकते तो मैं आपसे पूछूंगा कि आप सम्मेलन में क्यों आये। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि अगर ठीक इसी ढंग का प्रस्ताव बलायत, फ्रान्स या जर्मनी में होता कि जनता सार्वजनिक कार्यों में अंगरेज़ी फ्रेञ्च या जर्मन भाषा का प्रयोग करे अथवा पत्र व्यवहार अपनी २ भाषा में करे तो वह प्रस्ताव करनेवाला पागल समझा जाता। परन्तु यहाँ इतना तो आनन्द है कि आप लोग मुझे पागल नहीं समझते! —(हर्ष ध्वनि)— सचमुच अपने देश में यह कहना कि आप अपनी मातृभाषा में लिखें कैसी विचित्र बात है। इसके लिए आपको बधाई नहीं दी जा सकती। कांग्रेस को बधाई दी जाती है। आपने तो इसे पास कर लिया है जिसे मैं आप की ओर से पेश करता हूं और दो सज्जन समर्थन भी करेंगे। आप यह कह सकते हैं कि पेश करने से क्या हुआ। क्या आप व्यवहार करेंगे? क्या आपने स्वयं इसका पालन किया है? मैं समझता हूं कि जो लोग सम्मेलन के आदमी हैं उन्होंने कर लिया है और इसलिए पास करने से पहले जनता के जो लोग हैं खड़े होकर कहें कि वे आप भाइयों से अंग्रेज़ी आदि में पत्र व्यवहार नहीं करेंगे। बाबू भगवानदास ने कलकत्ते में ऐसा ही किया। जहाँ अंगरेज़ी में बात करने के बिना नहीं बनता आप वहां करें परन्तु आपस में ऐसा करने की क्या आवश्कता? १० वर्ष से मैंने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि अंगरेज़ों को छोड़कर दूसरों के साथ ऐसा न करूंगा। आप लोग ऐसी प्रतिज्ञा करें और इसको दिखाने के लिए उठ खड़े हों (हंसी ध्वनि) तो अब इस सम्बन्ध में यह कहना है कि जहां तक जनता का सम्बन्ध है यह सचमुच लज्जा की बात है कि अपनी भाषा के स्थान में विदेशी भाषा का व्यवहार किया जाय। जो लोग व्यापारी हैं उनसे यह कहना चाहता हूं कि वह लोग अपना बही खाता नागरी अक्षरों में लिखें। मुड़िया भाषा में लिखने से काम नहीं चलेगा। अब देखना यह है कि यह मुड़िया अक्षर क्यों बने—अभी आप अपने सामने देख रहे हैं कि एक महाशय

शार्टहैण्ड में लिख रहे हैं। बात यह है कि जल्दी २ लिखना है--मुड़िया इसलिए बनी कि लड़के भी लिख लें। होते २ वह सब जगह चल गई। लेकिन उसमें मात्रा न होने से बड़ा अन्याय होता है। जैसे "आप मौज के साथ गए—आप मौज समझ गए लिखा कलकत्ता समझे कलक्टर। इसमें जो लिखते हैं उसे पढ़ नहीं सकते। आप लोगों ने सुना होगा कि लिखा बाबा अजमेर गये हैं और पढ़ा बाबा आज मर गये हैं। एक बार, मैं भी कलकत्ते में लाख का काम करता हूं, लोगों ने लिख दिया ... ...और बांचा हमने ... ... । बाज़ार खुला तो यह कहा गया कि ... ... और मुझे जान पड़ा ... ... इसलिए ... ... में जाना पड़ा। इतनी परेशानी हुई। इसलिये इन सब बातों को देखते हुए आवश्यक है कि साफ़ और शुद्ध भाषा का प्रयोग करें मुड़िया का नहीं। मेरे यहां यह हुआ तो सही परन्तु नागरी भाषा का प्रचार कर दिया। अगर ऐसे प्रस्ताव दो चार बार पास कर लिए गये तो यह काम हो जायगा। आप से फिर यही कहूंगा कि आप व्यापार में नागरी अक्षर और आपस के व्यवहार में मातृ भाषा का प्रयोग करें। अब एक सूचना और यह है कि जगन्नाथ जी रत्नाकर ब्रजभाषा आप को सुनावेंगे। " इसके बाद श्रीव्रजनाथ ने कहा—"भाइयो और बहिनो, मेरे प्यारे मान्य जगन्नाथ प्रसाद जी ने जो प्रस्ताव उपस्थित किया है उसका समर्थन करने मैं आया हूं। यह आप समझते हैं कि मुड़िया या अन्य भाषा में कितनी रुकावटें होती हैं। मुढ़िया रूप में लिखने से बड़ी बड़ी हानि उठानी पड़ती है। एक बार की बात है कि मुड़िया में लिखा गया कि ... ... और पढ़ा गया ... ...। इससे उसे हानि उठानी पड़ी।

इस तरह इस प्रान्त के रहनेवाले अपनी अपनी भाषा में काम करें तो बड़ी बड़ी हानियां उठानी पड़ें। इसको सुलभ करने के लिए यह तरीक़ा है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी लिखी जाय। अगर ऐसा न होगा तो काम न चलेगा। कल जैसा पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने मुड़िया के दोष दिखाये थे उन्हें आज जगन्नाथ प्रसाद जी ने स्पष्ट कर दिया। आप जानते हैं कि भारतवर्ष के बाहर जो देश हैं व्यापार में सुलभता की दृष्टि से अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करते हैं। जर्मनी और फ्रान्स के लोग अंग्रेज़ी का व्यवहार करते हैं फिर हिन्दी के लिए ऐसा क्यों नहीं करते। मैं यह प्रस्ताव उपस्थित कर देना चाहता हूं परन्तु काम नहीं होता — क्या इस व्यापारिक नगर कानपुर में यह प्रस्ताव करते हुए मैं यह आशा कर सकता हूं कि लोग इसका प्रचार करने को तैयार होंगे। अगर ऐसा हुआ तो यहां के लोगों को श्रेय प्राप्त होगा। आप ऐसा करेंगे तो दूसरे भी अनुकरण करेंगे और रुकावट दूर होगी। इन्हीं शब्दों में मैं प्रस्ताव का समर्थन करता हूं।" इसके अनन्तर श्री रूप चन्द ने कहा—" मान्य सभापति महोदय और उपस्थित सज्जनो, जिस प्रस्ताव को उपस्थित करने वाले पण्डित जगन्नाथ प्रसाद और दूसरे लोग हैं उस पर मुझे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। मैं भी स्वयं इसी दोष में हूं। इस मुड़िया भाषा में इतने दोष हैं कि उन के लिये व्यर्थ ही मुझे अधिक समय लेने की आवश्यकया नहीं है। इस के लिये कहा जाता है कि यह बड़े सुख से लिखी जाती है। जगह थोड़ी लेती है लेकिन अभ्यास करने से हिन्दी भी जल्दी लिखी जा सकती है। मुड़िया जल्दी लिखी जाती है तो देर में पढ़ी जाती है अगर इस में यह सारे गुण ही होते तो यह राष्ट्रभाषा होती। बही खाता हिन्दी में लिखना प्रारम्भ कर दिया जाय तो मुड़िया का नाम ही नहीं रहजाता।

मुड़िया की लिखावट में बड़े दोष हैं। आज से मैं अपना कारबार मुड़िया में नहीं, हिन्दी करूंगा। (धन्य-धन्य वाह वाह की ध्वनि)।" इस के बाद श्री सेठ राम गोपाल ने कहा— "श्रीमान् बुजुर्ग और मेरे भाइयो, मैं आपके सामने जिसका अनुमोदन करने के लिए खड़ा हुआ हूं वह यह है कि हमारा बही खाता मुड़िया में न होकर हिन्दी में हो। बही खाता जो हिन्दी में होता है उसे नहीं समझते और मुड़िया में करते हैं, आर्य भाषा में नहीं। मैं समझता हूं कि नागरी में किया जाय तो लाभ हो लिखने पढ़ने में भी लाभ हो। इसलिये हम लोगों को बही खाता और पत्रव्यवहार सब आर्य भाषा में कर देना चाहिये। मुड़िया में जो बही खाता है उसमें बड़ा नुक़सान होता है। मज़ाक मुश्क पढ़ा जाता है, छींट छूट पढ़ी जाती है। पढ़ा भी देर में जाता है। इस तरह लिखने पढ़ने का हिसाब लगाकर दोनों में करीव २ बराबर समय लगता है। मुड़िया में थोड़ी जगह ज़रूर कम लगती है लेकिन इसमें भी लोग अधिक जगह लगाते हैं। मेरा खयाल है कि लोग नागरी में लिखें तो लाभ हो।" प्रस्ताव इस प्रकार अनुमोदित होनेपर स्वीकृत हुआ और इसके अनन्तर सभापति ने प्रस्तावों का कार्य यहीं रोककर श्री पण्डित गोविन्द नारायण मिश्रजी से एक व्याख्यान देने का अनुरोध किया। पण्डित जी ने कहा—"सभापति महोदय और उपस्थित सज्जन वृन्द, मैं व्याख्यान देने की आशा से यहां उपस्थित नहीं हुआ था किन्तु मेरे प्राचीन मित्र टण्डन जी का जो अनुरोध है वह स्वीकृत करना पड़ता है इसलिये थोड़े विषय में वह कहना चाहता हूं जिसके उपयोग का समय उपस्थित है। आप जानते हैं कि इस सम्मेलन ने १२ वर्ष कुशल क्षेम से व्यतीत किया कहा भी है "बारह वर्ष को वैद क्या और १६ वर्ष का उपदेश क्या"? बारह वर्ष की आयु में मनुष्य योनि से ऐसा समझा गया है कि वैद की आवश्यकता नहीं होती। १२ वर्ष बीत गये इसमें जो त्रुटियें आप ज्ञानी लोगों के रहते हुए भी रह गयी हैं उनकी ओर ध्यान दिलाने में आपका समय लेना चाहता हूं। कल मेरे श्रद्धेय मित्र पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जो भाषण स्वागतकारिणी समिति के अध्यक्ष रूप में किया वह ऐसे मननशील मित्र के मुख से विद्वज्जनों के लिये विचारणीय व्याख्यान था और यद्यपि उसमें बहुत वह विषय है जिसमें वाद-विवाद नहीं हो सकता लेकिन कुछ विवादग्रस्त भी है। विवादग्रस्त विषयों में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किस पर चलें—किस को मानें। जैसा समय है उसमें "तू तू, मैं मैं" का अवसर नहीं है। वाद-विवाद का समय नहीं है बल्कि आज मिल कर ऐसा कार्य करना चाहिये कि कार्य के सिद्धि का संकट दूर हो जाय। "संघ सङ्कट कलौ उभौ"—मिल कर जो काम किया जाता है सङ्गति से जो निर्णय होता है उसका अपलाप करना असम्भव है। मेरा यह कहना है कि, द्विवेदी जी महाराज होते तो कहता मगर देखता हूं कि वह यहां नहीं हैं, मेरा प्रधान बन्धु हिन्दी जगत है। जिस समय, मुझे याद है, ... विभक्ति के सम्बन्ध में लेख छपा प्रत्यय अलग लिखकर उससे लिखें। तो लोगों से यह क्यों कहा जाय कि हिन्दी में इनको अलग न लिखें, परन्तु मिला कर लिखने से लाभ होता है। इस विषय में व्याकरण का यह सिद्धान्त माना जाता है कि "वैयाकरणाः मात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवम मन्यन्ते" अर्थात् वैयाकरणों में एक मात्रा की कमी से पुत्रलाभ का सुख होता है। जब इस तरह का नियम है कि विभक्ति को शब्द से मिलाकर लिखते हैं जैसा कि राम, रामस्य वा रामेण प्रयोगों से सिद्ध है तो क्या हम एक नये सिद्धान्त की रचना करेंगे। राम से या राम का इत्यादि प्रयोगों में विभक्ति को शब्द

से मिलाकर लिखना इसी नियम के अनुसार है, विभक्ति को शब्द से मिलाकर, आप कहेंगे उनका उच्चारण अलग नहीं होता, आप से यह र्थना है कि आप इस को विचार लें। आप देखिये कि जिस जिस अक्षर से जो जो अक्षर जितने दूर होते हैं, उतनी देर का अवकाश उन के उच्चारण में होता है। मैं आप लोगों से विनयपूर्वक पूछता हूं कि, "गोपाल को बतलाओ। एक लड़के को धर्म सिखाओ।" इन प्रयोगों में क्या आप गोपाल कह कर "को" कहेंगे। लड़के कह कर "को" कहेंगे। आशा है कि इस प्रकार के विवादग्रस्त विषय को सम्मेलन को निर्णय करने का मौक़ा है। इसको चाहिये कि इसके लिये एक निश्चित् नियम सब की सम्मति से स्थिर करें, इस विषय में मौनावलम्बन कर और विषय उपस्थित करता हूं — दूसरी एक बात द्विवेदी जी ने यह कही है कि भाषा अगर व्याकरण के नियमों से जकड़ दी जायगी तो मर जायगी, मृतक हो जायेगी, और उसकी उन्नति रुक जायगी। इस विषय में तनिक आप सोचें कि हिन्दी राष्ट्र भाषा की पदाधिकारिणी किसी के परिश्रम से नहीं हुई, सर्वसाधारण की भाषा होने के लिए श्रुति माधुर्य्य सुगमता? और उच्चारणकी सरलता आवश्यक होती है। तामिल, तेलगू और भारत की दूसरी भाषायें ऊंचा साहित्य रखते हुए श्री राष्ट्रभाषा न हो सकीं क्योंकि उनका सीखना और उच्चारण बहुत कठिन है। हिन्दी भाषा इतनी सहज है कि विलायत से आये हुये नये २ साहब लोग "हम" "टुम" कह कर हिन्दी भाषा बोल और समझ लेते हैं। जो इतनी सहज भाषा है और जो अपने सहज होने के कारण राष्ट्रभाषा की अधिकारिणी हुई है, क्या उसका व्याकरण कठिन होगा? यह तो असम्भव है कि उसके नियम कठिन हों जैसे लैटिन और जर्मन की भाषा और व्याकरण का नित्य सम्बन्ध है। भाषा को छोड़ कर व्याकरण और व्याकरण को छोड़ कर भाषा नहीं रह सकती, यह सिद्धान्त है। भाषा व्याकरण के अवलम्बन को छोड़ कर नहीं रहेगी। भाषा का नित्य सम्बन्ध व्याकरण से है। जब किसी बालक की बोली को आप सुधारते हैं, तो क्या यह व्याकरण की शिक्षा नहीं होती? अगर कोई बंग देशीय कहे कि "लड़की आता है" "मां आता है" तो यदि इसको न रोका जाय तो भाषा की क्या गति होगी? व्याकरण रोकने वाला नहीं नियम दिखलाने वाला है। जो नियमों का पालन करते हैं वह बड़ा उपकार करते हैं "जकड़ कर नियमों से भाषा को मृतक करते हैं" ऐसा कदापि नहीं। संस्कृत भाषा का तो नाम ही संस्कृत है किन्तु देववाणी और वैदिक भाषा के विषय में ऐतिहासिक रूप से ऐसा मत आता है कि इन्द्र ने व्याकरण बनाया, महादेव ने व्याकरण बनाया। अंग्रेज़ संकोच करनेवाले हैं और बहुत से पुराने पद्धति को बदलने वाले हो गये हैं, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि वेद के समय से व्याकरण की रचना आरम्भ हुई और पाणिनी के समय में समाप्त हुई। इस तरह से वह एक ऐसे अकाट्य नियमों से बंध गई कि उसका नाश असम्भावित हो गया। क्या सम्मेलन से यह हो सकता है, कि वह भाषा में नित्य के परिवर्त्तनों को रोके। पांच वर्ष में रूप में अन्तर हो जाता है। दश वर्ष में अन्तर आता है युवा और बुढ़ापे में अन्तर आता है इतना अधिक कि प्राचीन नवीन को पहिचान नहीं सकते, इस को रोकने के लिए व्याकरण की आवश्यकता है। मैं आप से प्रार्थना करता हूं कि आप विचार करें कि व्याकरण को छोड़ कर मातृभाषा चल सकती है या नहीं। हिन्दी में जो मात्रायें आती हैं उनमें प्रकृति के नियम को मान दिया जाता है

प्रकृति में व्याकरण का प्रमाण देने योग्य एक भी ग्रन्थ नहीं है। मैंने जो देखा है उसमें प्राचीन तम चामुण्ड का व्याकरण है। यह वेदव्यास के समय में रचा गया, इसके बाद वररुचि का व्याकरण प्राप्त होता है, इनमें यह दिखाया है, कि किस अक्षर से क्या होता है। इस में देश की रीति से देखा है, न कि पाणिनी की तरह सूत्रों से बांधा है। जब वैसे नियम नहीं हैं तो सूरसेनी, मागधी और सब से प्राचीन ... ... और ... ... भाषा में कठिन नियम नहीं थे, तो फिर देश और प्रान्त में बोलने, चालने वाली भाषा कितनी बनती गयीं, व्याकरण के नियम थे ही नहीं, परिवर्तन होता गया। इस समय हम लोगों का यह कर्तव्य है कि साहित्य सम्मेलन के परिचालक टण्डन जी से यह अनुरोध करें कि वह जो विवादग्रस्त विषय हैं उन का निर्णय करने के लिए विद्वानों की सम्मति से एक मार्ग स्थित करें जिससे यह झगड़ा दूर हो। "गया" "गयी" का झगड़ा भी आज का नहीं है। ऐसा नियम है कि ... ... स्थान में "आ" होता है यदि इसको मान लें तो "गई" प्रयोग में "य" लिखना चाहिए। प्राकृत के नियम को यह रूप दिया है "गयो सुकेहरि" इसी में "रायऊ" "गयो" इत्यादि रूप हुए और इसी से "गया" हुआ तो इन बातों को देखना चाहिए और इसमें गवेषणा की आवश्यकता है, यदि व्याकरण की उपेक्षा होगी तो बंगवासियों का प्रयोग निर्दोष होगा "हाथी" के बारे में श्री द्विवेदी जी ने कहा है—यह "लिङ्ग" के बारे में कहना है। "हाथी एक बड़ा जानवर है" इसका "स्त्री लिङ्ग" है "हथिनी" इसके दो (दांत)... ...नहीं निकलते। इनके लिङ्ग प्रत्यक्ष होते हैं। "हाथी आयी" ऐसा कोई कहे, तो यह क्षम्य नहीं हो सकता। तो इसका परिमार्जन करना चाहिये। और आगे ऐसा मार्ग लेना चाहिये कि वाद विवाद भी न हो और काम भी चले। इतना भी न हुआ और दुराग्रह न गया तो उन्नति न होगी। बहुत समय लड़ाई में व्यतीत कर दिया; इस समय में कुछ करके दिखलाना उचित है। "लिङ्गो व्यभिचारी" यह पहले लिखा है, "स्त्री लिङ्ग" या "पुरुष लिङ्ग" तो व्यभिचार यह है कि स्त्री और पुलिङ्ग दोनों होता है। "तू" और "मैं" का झगड़ा भी चला, परन्तु वह गुप्त हो गया। गुरुमुखी या पञ्जाबी और उर्दू में "बरहमन" लिखते हैं। पञ्जाबी में जो ज़िद और मतभेद भरा हुआ था वह भी नष्ट हो गया। शिक्षा का अधिकार मौलवी और मुल्लाओं को रहा इसलिये भूल कर यह प्रयोग चल पड़ा। वास्तव में अस्मद् शब्द हो उस की जगह एक वचन में "हौं" और बहु वचन में "हम" होता है। "मार्यम्" इसमें "मयि" का अर्थ "मैं" होता है ऐसा चन्द वरदाई ने ... ... किया है। मुसलमान और मुल्लाओं के सम्पर्क से ऐसा हुआ है। और भूल से चला हुआ यह अब निकल भी नहीं सकता। आज भी स्वाधीन होकर मार्ग प्रशस्त न किया गया तो यह भूल अच्छी न होगी। इस समय यह बात हो रही है कि हिन्दी के ठेठ शब्द प्रयोग नहीं करते क्योंकि भारतवासी उर्दू पढ़ने वाले भी हैं। तो इसका प्रयोग बन्द करना चाहिये। उसकी जगह ऐसा करना चाहिये कि सब को समझने के लिये एक सा मौक़ा हो। इस तरह हिन्दी के रूप का विकाश करना हमारा परम कर्तव्य है। आज संक्षिप्त रूप से इतना निवेदन किया कि आगे भूल न करें यही प्रार्थना है"। तदनन्तर गत सम्मेलन की परीक्षा में उत्तीर्ण छात्रों को उपाधि पारितोषिक आदि वितरण के पश्चात आज की कार्यवाही सम्पादित हुई।

तृतीय दिवस।

संध्या समय सम्मेलन-कार्य श्री द्वारिका प्रसाद जी के गान के साथ आरम्भ हुआ। उनके "उठो अब ना देर करो...... प्रभु होवे उपकार सम्मेलन से" इन गानों के पश्चात श्री माधव शुक्ल ने "हे जगदीश......"इत्यादि गान किया। फिर श्री सरूप चन्द तथा पं० राजाराम की कविताओं के पश्चात श्री गौरीशंकर भट्ट ने अपनी कला चातुरी दिखलायी। जिसके लिये श्री लाला दूंगा दीन जी ने एक स्वर्णपदक उन्हें प्रदान किया। फिर सभापति महोदय ने कहा:— 'भाइयो! अब मंगलाप्रसाद पारितोषिक पं० पद्मसिंह शर्म्मा को दिया जायेगा। मैं पारितोषिक के सम्बन्ध में दो एक शब्द उचित समझता हूँ कि सुना दूं। पटने के सम्मेलन में एक यह मन्तव्य हुआ था कि एक ऐसा कोश बनाया जाय कि जिसके ब्याज से इतना धन प्राप्त हो, जिससे हिन्दी के मौलिक ग्रन्थों के रचनेवाले को एक अच्छा पारितोषिक दिया जा सके। हिन्दी साहित्य की वृद्धि और उपकार हो; यूरप में "नोबुल प्राइज" एक लाख से अधिक की है।" नोबुल साहब नाम के एक व्यक्ति ने पंद्रह सोलह लाख रुपया जमा कर दिया जिससे एक लाख रुपया प्रति वर्ष आता है। इससे समस्त भू मंडल में जो सबसे उत्तम रचना होती है उसको पारितोषिक दिया जाता है। एक बार हमारे यहां के रवीन्द्र नाथ ठाकुर को भी गीताञ्जली पर यह पारितोषिक दिया गया था। विचार यह हुआ कि हिन्दी में भी इस प्रकार का कोई इनाम दिया जाय जिससे हिन्दी साहित्य की वृद्धि और लेखकों का उचित सम्मान हो। एक दिन ऐसा था जब राजा लोग और गवर्नमेंट लेखकों और कवियों का आदर करती थी, आज ऐसा नहीं है। अच्छे २ कवि हैं परन्तु उनको उत्साह नहीं मिलता, विलायत में जो अच्छे कवि और लेखक होते हैं उसका कारण यह है, कि उनको गवर्नमेंट की तरफ से "छात्र वृत्ति" मिलती है। वे बैठे बैठे सोचते और लिखते रहते हैं — दूसरे कामों से उनका मतलब नहीं। उम्र भर में दो एक पुस्तक ही लिखते हैं, लेकिन जब कलम निकलती है तो विचारपूर्ण। हमारे यहां भी ऐसा किया जायगा तो साहित्य की अद्भुत वृद्धि होगी। मौलिक ग्रन्थों के लिए ऐसा करना आवश्यक है। पटने में यह विचार हुआ, परन्तु कोई कार्यवाही न हुई। कलकत्ते में जब गये तो वहां पुरुषोत्तम राव ने इसकी चर्चा चलाई। मैंने गोकुलचन्द जी से इस के लिये कहा। उन्होंने कहा कि मैं अपने प्यारे भाई मंगलाप्रसाद की याद में कुछ रुपया दूंगा। कैसा अच्छा तरीका भाई के याद करने का है। गोकुलचन्द ने कलकत्ते में चालीस हज़ार रुपया दिया, और एक ट्रस्ट लिख दिया कि इस से १२००) रु० प्रति वर्ष पारितोषिक दिया जाय। पांच सात आदमियों का एक ट्रष्ट (trust) है जिसमें एक वह भी हैं। ट्रष्ट का काम यह है कि वह निश्चित करके तीन निर्णायक चुने और वह निर्णायक जिस ग्रन्थ को अच्छा समझें उस पर पारितोषिक दें। उनका फैसला अन्तिम हो। इस वर्ष यह पहिला पारितोषिक है। यह पारितोषिक १२००) रु० का पारितोषिक है यह साहित्य के लिए निर्णायक किसी को दे सकते हैं। समिति का यही निर्णय है। पहले ३ निर्णायक चुने गये थे। उनमें श्रद्धेय पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० चन्द्रशेखर शास्त्री और पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी थे। उन्होंने अपनी सम्मति दे दी, लेकिन उनकी स्वतन्त्र सम्मति भिन्न भिन्न ग्रन्थों की थी. नियम यह है कि ऐसे अवसर पर दूसरे निर्णायक चुने जांय। नियम के अनुसार यह आवश्यक हो गया, जब तीनों सज्जन अलग अलग सम्मति रखते थे,

तुरन्त ट्रस्टियों ने तार व्योहार किया और तीन नये सज्जन निर्णायक चुने गये। वह थे श्रीधर पाठक, अध्यापक रामदास गौड़ और वियोगी हरिजी। इन तीनों सज्जनों ने मिलकर एक सम्मति से यह पारितोषिक पद्मसिंह शर्म्मा को दिया। उनके विहारी सतसई ग्रन्थ पर, जिसका पहिला भाग निकल चुका है और दूसरा भाग संजीवनी भाष्य के नाम पर है। तीनों सज्जनों की जो सम्मति है वह पं० रामजी लाल शर्म्मा आपको पढ़ कर सुनायेंगे। मैं समझता हूं कि यह मेरा आनन्दपूर्ण कर्तव्य होगा कि मैं यह पारितोषिक पं० पद्मसिंह शर्म्मा को अर्पण करूं।

इसके पश्चात पं० रामजीलाल शर्म्मा ने सम्मति पढ़ीं। इसके अनन्तर सभापति जी ने कहा—"सज्जनों, मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक पं० पद्मसिंह शर्म्मा को मिला है मैं इसकी सूचना आपको देताहूं। पद्मसिंह शर्म्मा की ओर आदर भाव से फिर कर—"भगवन यह पारितोषिक आपको प्रदान करता हूं" पुनरपि पारितोषिक प्रदान का सूचक, यह ताम्र पत्र भी आपको प्रदान करता हूं।"

श्री पं० पद्मसिंह शर्म्मा ने कहा — "मैं इस सम्मान के लिए इस सम्मेलन का कृतज्ञ हूं। और इस रचना के लिए निर्णायकों ने जो व्यवस्था दी है, इसके लिए उनको धन्यवाद देता हूं।" तत्पश्चात धन याचना करते हुए, अध्यापक रामदास गौड़ ने कहा—"इस धनाढ्य और हिन्दी भाषा के भक्त नगर कानपुर के निवासी श्रद्धालु सज्जनो, हिन्दी माता के भक्त सज्जनो! इस समय जो काम मुझे सौंपा गया है उस के लिए मैं विशेष अनुपयुक्त हूं। जिस कामकी योग्यता मुझमें तनिक भी नहीं है और जिसके करने के लिए आपके सन्मुख खड़ा हुआ हूं, वह हमारे मित्र मालवीय जी का काम है जो अभी आप के सामने आवेंगे। किन्तु मैं पूज्य गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में कहूंगा कि "आरत काह न कीन्ह कुकर्मू" आप जानते हैं कि अभी आपके सामने हमारे परम मित्र पं० पद्मसिंह शर्म्मा जी को एक ताम्र पत्र दिया गया है। अगर यह पारितोषिक के वास्ते महत्व का न होता, तो इस ताम्र पत्र की आवश्यकता न होती, एक काग़ज़ का पार्चमेन्ट अथवा प्रमाण पत्र परियाप्त होता। मगर आप ने देखा कि ताम्र पत्र के ऊपर कुछ खोद कर उन को दिया गया, हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह एक अपूर्व काम हुआ है जिस के लिए यह ताम्र पत्र दिया गया, जिस से इस की याद बनी रहे। मैं आप को याद दिलाना चाहता हूं कि इसी प्रकार प्राचीन काल में जब राजे महाराजे दान करते थे, पारितोषिक देते थे, आदर करते थे, तो कवि या लेखकों को स्मरण के लिए ताम्र पत्र भी दिया करते थे — पत्थर में खुदवा दिया करते थे, ताकि यादगार क़ायम रहे। मगर भाइयो, यह याद रखिये कि हिन्दी साहित्य की यादगार के क़ायम रखने के लिये एक बड़े भारी स्थान की आवश्यकता है। इसके लिए मुझे आपसे प्रार्थना करनी पड़ती है कि आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन को एक भवन दीजिए कि जिसमें आपके हिन्दी साहित्य के रत्न प्राचीन कवियों और लेखकों के उत्तम ग्रन्थ, उन के हाथ के पत्र, उनकी क़लम, आसन, खड़ाऊं वगैरह जो आज कल अमूल्य हैं, जिनको करोड़ों रुपया भी देकर पाना मुश्किल है, एक ऐसे संग्रहालय की भिक्षा मांगने के लिए आप के सामने खड़ा हुआ हूं, जिसमें अभी आपने देखा है कि ऐसे पदार्थ जो अभी हमारे मित्र को मिला है उनका संग्रह किया जायेगा, जिससे उनकी रक्षा हो। संग्रहालय के होने से उन ग्रन्थों और चीज़ों की बहुत समय तक रक्षा होगी। आवश्यक है कि इसके लिए एक उपयुक्त मन्दिर हो जिससे प्राचीन महापुरुषों के पूज्य रत्नों की रक्षा की जा सके। इस काम के लिए जो कुछ प्रस्ताव होने वाला है वह

तो आपके सामने बाज़ाता पेश किया जायगा परन्तु हमको यह आज्ञा मिली है कि भिक्षा संग्रह करूं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ऐसे मकान बनवाने और ऐसे प्राचीन पदार्थों के संग्रह में पहले साल दो लाख रुपये से कम व्यय न होगा। यह सम्मेलन का ऐसा अवसर है कि हमारे हिन्दी सेवी भाई इकट्ठे हुए हैं और सब इसके लिए प्रार्थना निवेदन कर सकते हैं। मेरे भाइयो, यह प्रार्थना आप से हिन्दी की नहीं है। देखिये, मैं आप को याद दिलाता हूं कि एक अंग्रेज़ जो नौकरी करने के लिए यहां आता है अगर उसे हाथ की लिखी कोई पोथी मिल जाती है तो दो चार रुपये में उसे ख़रीद लेता है। क्यों ख़रीदता है—किस लिए ख़रीदता है? आक्सफ़र्ड बैटेलियन लाइब्रेरी के लिए जिससे अपूर्व ग्रन्थ लिखे जाते हैं। अपनी मातृ-भाषा के लिए, पुस्तकालय के लिए, संग्रहालय के लिए सात समुन्दर पार करके आते हैं और ऐसे रत्नों की रक्षा करते हैं। धन व्यय करके अपने यहां भेजते हैं—उनके पास इतना धन है। आपके पास संग्रहालय का अभाव है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह भक्ति होगी अगर ऐसे रत्नों का संग्रह करके उनकी रक्षा की जाय। प्राचीन कवियों की खड़ाऊं, पत्र आदि चीज़ें आपके यहां रखने का ढङ्ग चला आया है। गौतम का स्तूप खोदा गया तो डिबिये में महात्मा बुद्ध की स्मृति का एक चिन्ह, एक ढकना उस में निकला। महापुरुषों का स्मारक रखने के लिए यह तरीक़ा है कि मन्दिर, शिवाला, पाठशाला स्थापित करते हैं। हम चाहते हैं कि कवियों और लेखकों का स्मारक भी निर्माण करें। अलग २ नहीं, एक ऐसा स्थान हो जहां सुरक्षित रहें। इङ्गलण्ड में वेस्ट मिनेस्टर अबे एक क़ब्रिस्तान है। अब तो उसमें जगह नहीं है परन्तु जो बड़ा भारी महा पुरुष, कवि होता है उसके लिये जगह नहीं होती तो एक पत्थर का टुकड़ा लगा देते हैं। ऐसे मुल्क में भी यह तरीका है जहाँ श्राद्ध की प्रथा नहीं! हमारे यहां तो बड़े बड़े कवि और लेखकों की याद के लिए ऐसा धर्म माना गया है, उनके स्मरण के लिए उपवास करते हैं, त्योहार मनाते हैं। तो मैं समझता हूं कि आप लोग जो हिन्दी माता के भक्त हैं इसका अनुभव करेंगे और हमारी प्रार्थना व्यर्थ न जायगी और आप लाख रुपया तो इस में देंगे ही। कानपुर की जनता के लिए बड़ा अवसर प्राप्त है। इस अवसर को भाइयो, हाथ से न जाने दो। हमारे लिए अब सिर्फ़ हाथ जोड़ कर यह प्रार्थना करने का मौक़ा है कि जो कुछ हिन्दी भाषा की रक्षा के लिए दे सकें आप दें"। इसका समर्थन करते हुए—याचना रूप में श्री कृष्णकान्त मालवीय ने कहा:—"सभापति महोदय, देवियो, और सज्जन गण 'दर्दे क़ौमी से तड़प का लुत्फ़ गर हासिल नहीं। राज़ पहलू में है रक्खा वह दिल नहीं। सज्जनो, जो कार्य-भार मुझे आज सौंपा गया है मैं अपने को सर्वथा उसके अनुपयुक्त समझता हूं। इसे सोचता हूं कि मेरा जन्म ब्राह्मणकुल में हुआ है, यह भी सोचता हूं कि देश के एक बहुत बड़े भिखारी से मेरा घनिष्ट सम्बन्ध है, फिर मैं अपने कर्तव्य को पालन करने में, अपने को सर्वथा अनुपयुक्त पाता हूं। लेकिन मैं इस सम्मेलन के सभापति महोदय के एक पवित्र मार्ग का अनुसरण चाहता हूं। सभापति महोदय ने अपनी वक्तृता आरम्भ करते समय आप लोगों से अपने रक्षण की याचना की थी। मैं रक्षण के साथ २ आप से सहायता की भी याचना करता हूं। काम सर्वथा कठिन होते हुए भी, जिस तरह से कि काले से काले बादल के देखने में रुपहले आत्मा का प्रादुर्भाव देखा जाता है इसी तरह मुझे भी यह आशा की झलक आशान्वित करती है कि आप से माता के लिए,

माता के आभूषण के लिए, माता के गृह-निर्माण के लिए, माता के मन्दिर के लिए, याचना कर सकता हूं। अगर यह विश्वास न होता, अगर यह आशा न होती, कि माता के सुपूत अपनी माता को गौरवान्वित करने के लिए सर्वथा यथाशक्ति कोई बात उठा न रक्खेंगे तो मैं कभी आपके सामने खड़ा होने का साहस तक न करता। मैं आप लोगों को यह नहीं समझाना चाहता हूं कि मातृभाषा और स्वराज्य से कैसा घना सम्बन्ध है। मैं आप लोगों की सेवा में यह निवेदन करना आवश्यक नहीं समझता कि अगर वास्तव में आप स्वतन्त्रता के पुजारी हैं तो इसके लिए सर्व प्रधान आवश्यकता यह है कि आप मातृभाषा के पुजारी हों। हम आप से पूछना चाहते हैं कि आप अपनी मातृभाषा के बचाने की कौन सी आयोजना करना चाहते हैं। जैसा कि श्रद्धेय द्विवेदी जी ने अपने वक्तव्य में कहा था कि .... का भी आदर नहीं होता। मैं आप से पूछना चाहता हूं कि जिस माता के इतने सुपूत हों, जिस माता की ख़बरदारी करने के लिए इतने सपूत सदा तैय्यार हों, क्या हमारे और आपके लिए यह लज्जा की बात नहीं है कि उस भिखारिणी माता का एक भी मन्दिर हम लोग निर्माण न कर सकें। मेरा आप लोगों से यह आशा करना कि माता के मन्दिर के लिए कष्ट सहकर भी बहुत कुछ करेंगे व्यर्थ होगा। क्या हमारी यह प्रार्थना माता-सुपूत अनुसुनी कर देंगे। हम आप से पूछना चाहते हैं कि जब आप यह प्रस्ताव उपस्थित करते हैं कि राष्ट्रीय महासभा के कर्णधार अपनी सब कार्य्यवाही मातृभाषा के द्वारा किया करें तो इस प्रार्थना के करने के पहिले क्या यह आपका कर्तव्य नहीं है कि जिस माता का अपने को पुजारी बनाना चाहते हैं, तो उसकी पूजा के लिए और उसकी तुष्टि के लिए आप एक मन्दिर तो कम से कम निर्माण कर दें। मेरा कहना आपसे केवल इतना है कि आप माता के लिए एक मन्दिर निर्माण कर दें जहां पूजन अर्चन की सामग्री और माता के समस्त आभूषण जो बड़े २ कवियों और लेखकों ने उसकी सेवा में अर्पित किये हैं सुरक्षित रक्खे जांय। आप जानते होंगे कि अन्य देश के निवासियों ने अपनी मातृभाषा के लिए, अपनी मातृभूमि के लिए, शीश का त्याग कर दिया। वास्तव में हमें तो यह बड़ा दुःख है, कि त्याग स्वरूप, शिव, दधीचि, बलि ऐसे २ महा पुरुषों की संतान ऐसे त्याग के संग्राम में न आकर पड़े, इससे भी अधिक दुःख की बात यह है कि इन सपूतों के हृदय में उत्साह पैदा करने के लिए विदेशियों का उदाहरण उपस्थित करना पड़े। हम आपके सामने एक उदाहरण उस समय का रखना चाहते हैं जिस समय जापान के निवासी पोर्ट आर्थर को विजय करना चाहते थे। पोर्ट आर्थर पर कब्ज़ा करने में रूस वालों ने ऐसी कठिनाई उपस्थित कर दी थी कि वहां पहुंचना कठिन होगया क्योंकि समुद्र बड़ा गहरा था और उसको छिछला किये बिना वहां जापानी जा नहीं सकते थे। जापानी जहाज़ के सेनापति ने कहा कि एक जहाज़ डुबाने की आवश्यकता होगी।। जापानी नवयुवकों ने प्राण अर्पण कर देने की कुछ परवाह न की। सिपाहियों से भरा हुआ एक जहाज़ डुबा दिया गया और इस प्रकार पोर्ट आर्थर पर जापानियों ने कब्ज़ा कर लिया। कैसा त्याग है, कैसा आत्मोतसर्ग है, कैसी वीरता है! हम आप से प्राण-भिक्षा नहीं माँग रहे हैं हिन्दी साहित्य के योग में मैं आप से यह प्रार्थना करता हूं। सब से छोटी चीज़ रुपया अर्पन, हाथ के मैल का दान, कर दें।

"मिटा जो नाम तो दौलत की जुस्तजू क्या है।
नाज़ न हो वतन पर तो आबरू क्या है॥

लगा दे आग न दिल में तो आरजू क्या है।
जो नहीं आंख से टपका तो वह लहू क्या है॥

कितने लज्जा की बात है कि इतने मातृभाषा के प्रेमी स्वराज्य प्राप्त करने के लिए लालाइत हों और दशा हमारी यह हो कि माता के पूजा करने को हमारे पास एक मन्दिर नहीं। इससे आप लोगों से, माता के सुपूतों से, माता के पूजा के लिए भिक्षा मांगे यह उचित नहीं। हम तो यह समझते हैं कि हमारा कहना इस सम्बन्ध में आवश्यक नहीं है। उदार माता के प्रेमी, मातृभाषा के पुजारियों के लिए दो लक्ष रुपया मिलकर देना वह भी इस कानपुर के क्षेत्र में जो इस प्रान्त का व्योपारिक केन्द्र है कौनसी कठिन बात है। जहां एक से एक कुबेर, एक से एक बड़े लक्ष्मी पात्र मौजूद हैं उनके लिए माता के मन्दिर निर्माण करने के लिए दो लाख का दान कौनसी बड़ी बात है। मैंने अगर यह समझा होता कि कोई कठिन बात मुझे आप लोगों की सेवा में निवेदन करना है तो आप लोगों के समक्ष कदापि साहस न करता। मैंने इसलिए आरम्भ में ही आप लोगों की सहायता की याचना की थी। मुझे आशा है कि आप लोग इस छोटी रकम को अवश्य पूरा कर देंगे।" तत्पश्चात् पं० गिरिधर शर्मा ने कहा, "मान्यवर सज्जनो, श्री मान कृष्ण-कान्त मालवीय की अपील आप सुन चुके हैं। समय काम का है लम्बी वक्तृता की आवश्यकता नहीं है। सिर्फ विचार यह है जैसा कि उन्होंने कहा कि सवाल मातृ-मन्दिर का है—माता के लिये मन्दिर बनवाना है। आप सोच लीजिये जिनकी माता के लिये बैठने को मन्दिर न हो, स्थान न हो तो क्या यह उनके लिये लज्जा की बात नहीं है। हम लोग अच्छे आराम के सामान रक्खें, कपड़े पहनें साथ ही माता की यह दशा कि उसे बैठने को स्थान नहीं! जब मातृभाषा को माता के समान मानते हैं तो यह सोचना होगा कि जो माता पुत्र को पेट में रखती है उसको भला बाहर तो स्थान दें। कितने लज्जा की बात है कि मातृभाषा की सेवा के लिए जहां दूसरे देशों में एक एक राजे महाराजे लाखों का दान करते हैं, बड़ी २ एकाडमी बनवाते हैं, हमारे यहां यह झगड़ा रक्खा है कि अनुभव करें! नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन दोनों ही यह कहते हैं। पुराने लोगों ने जो सेवा छेड़ी है उसकी रक्षा भी नहीं करते। विद्यादान देने के लिए तो स्कूल खोलेंगे परन्तु इन पुराने रत्नों की रक्षा के लिये कोई आयो-जना नहीं! याद रखिये कि यह सेवा बड़ी अमूल्य है। रुपया पैसा छोड़ जाना वैसा बड़ा काम नहीं जैसा यह है। इतने परिश्रम से छोड़े हुए उन पूर्वजों की इस कृति की रक्षा करना हमारा धर्म है। इसलिये संयुक्त प्रान्त में कानपुर जो व्यापार का स्थान है वहां यह कह देना चाहता हूं कि साहित्य की रक्षा आवश्यक है तो एक अच्छे संग्रहालय अथवा पुस्तकालय की बड़ी आवश्यकता है। यह नितान्त आवश्यक है नहीं तो आगे पढ़नेवालों का रास्ता कट जायगा। इस रास्ते को रक्षा होनी चाहिये। हम देखना चाहते हैं कि इस काम के लिये आप कितनी जल्दी से तैयार होते हैं। इसलिये जो अपील पण्डित कृष्णकान्त मालवीय ने की है उसकी याद दिलाना चाहता हूं और देखना चाहता हूं कि आप में कितना उत्साह है"। इसके पश्चात् श्री श्यामलाल गुप्त और सनेही जी ने इसी सम्बन्ध में पद्य पढ़े। तब याचना के पश्चात् दाताओं ने कुछ दान दिया फिर देशी रियासतों में हिन्दी प्रचार वाला प्रस्ताव करते हुये श्री पण्डित गिरिधर शर्मा ने कहा:— "मान्य सज्जनों,

यह प्रस्ताव आपलोगों के सामने उपस्थित करने की आज्ञा मुझे दी गयी है कि—(७वां प्रस्ताव)। आपको यह बात समझ लेनी होगी कि दुनिया भर में यह नियम है कि जैसा किसी दूसरे से काम कराना चाहें वैसा ही स्वयं करें। और हम विदेशी गवर्नमेण्ट से यह चाहें कि हिन्दी में कार्य करे तो पहले देशी राज्यों में भी जहां विदेशी भाषा को प्रथम स्थान मिल चुका है, जो देशी राज कहलाते हैं. हमारे घर हैं और फिर भी हमारी भाषा को स्थान नहीं देते इसका यत्न करें कि हिन्दी को स्थान मिले। कितनी रियासतें ऐसी हैं जहाँ उर्दू में काम होता है। कुछ ऐसी भी हैं जहां नागरी अक्षरों का प्रचार है। लिखा वहां जाता है "चुनान्चे ......" यह इत्तला का रूप है। जहां प्रजा ऐसी अनभिज्ञ है वहां इसकी क्या आवश्यकता जिसको वह समझ ही न सके। मैं स्वयं देशी रियासत का रहनेवाला हूं। एक बार किसी आदमी के ख़िलाफ़ दण्ड का एक हुक्मनामा उर्दू लफ़्ज़ों में निकला उस मनुष्य ने नहीं समझा और नियत समय पर नहीं पहुंचा—दण्ड के हुक्म को तोड़ दिया! (हँसी-ध्वनि)। जो देशी रियासतें हिन्दी भाषाभाषी हैं वहां तो प्रजा की भाषा को स्थान देना चाहिये। इनको इसके लिये तैयार करने का आवश्यकता है। इसलिये यह प्रस्ताव उपस्थित है कि सम्मेलन की ओर से एक डेप्यूटेशन जाकर रियासतों को बतलावे कि आप लोगों के यहाँ हिन्दी होते हुए दूसरी भाषा को सम्मान का स्थान मिलना अनुचित है। इस बात का प्रचार करना चाहिये कि न केवल नागरी अक्षरों का प्रचार बल्कि हिन्दी भाषा का प्रचार होना चाहिये। उनसे कहना चाहिये कि आप हिन्दी का प्रचार चाहते हैं तो सम्मेलन का संरक्षक बनना स्वीकार कीजिये। इस काम के लिये ही स्थायी समिति का यह प्रस्ताव है। आप इसका अनुमोदन करेंगे ऐसी मेरी आशा है"। इसका समर्थन करते हुए श्री महेशदत्त जी ने कहाः—"देशमान्य सभापति महोदय और भाइयो, सम्मेलन को स्थापित हुए १२ वर्ष हुए। हम समझते थे कि देशी राज्य जो............ थे सम्मेलन की राय से ऐसे जाग्रत होंगे कि राज्य में मातृभाषा को उचित स्थान देंगे। किन्तु खेद है कि कुछ देशी नरेशों को छोड़ कर अधिकांश में हिन्दी को वह स्थान प्राप्त नहीं होता दीखता। हम दूसरों से यह आशा करते हैं कि हमारी भाषा को राष्ट्रभाषा का स्थान दें किन्तु यह कितने परिताप का विषय है कि जो भाषा हम जानते हैं उसका प्रयोग हमारे राज्य में उचित स्थान पर नहीं है। हमारी देशी रियासतों का निर्माण हुआ है इसलिये कि राष्ट्रभाषा का मान होने की जगह उसका नाश होगा! याद रखना चाहिये कि राष्ट्रभाषा की आवश्यकता स्वराज्य दृष्टि से ही नहीं वरन् और भी कारणों से है इसलिये मैं इसका समर्थन करता हूं"। श्री पीर मुहम्मद यूनिस ने कहाः—"मान्य सभापति महोदय, उपस्थित सज्जन भाइयो, जिस प्रस्ताव को पण्डित गिरिधर शर्मा ने पेश किया और महेश दत्त जी ने अनुमोदन किया मैं उसका खुले दिल से समर्थन करता हूं। मुझे बोलने का अभ्यास बहुत कम है इसलिये जो ग़लती करूं उसको क्षमा कीजिये। जिस भाषा लिपि को देश वाले या शासक मान और आदर न दें वह भाषा या लिपि बाहर जीवित नहीं रहती। आप जानते हैं कि उर्दू भाषा या उर्दू लिपि की जो उन्नति हुई है उसका ख़ास कारण था। अवध के मुसलमान बादशाहों ने जिस तरह उर्दू भाषा और लिपि को जैसे व्यवहार में किया है उससे यह इतनी उन्नत हुई। लेकिन प्रताप के बाद से सैकड़ों हिन्दू राजे हुए परन्तु हिन्दी को स्थान नहीं दिया। मुझे राजपूताने में कई स्थानों में जाने का मौका हुआ है। अहमदाबाद कांग्रेस से लौटते समय जयपुर

जोधपुर गया, लोगों से मिलने का अवसर हुआ। लोग उर्दू बोलते और लिखते थे। जोधपुर के देवी प्रसाद जी जिनसे मेरा परिचय है ख़त उर्दू में लिखते थे और उन्हों ने कहा है कि यहां कार्रवाई उर्दू में होती है। जो रियासत हिन्दू होने का सौभाग्य समझती है उसमें भी उर्दू में काम किया जाता है। सम्मेलन का प्रस्ताव कि हिन्दी रियासतें हिन्दी में काम करें। सम्मेलन का कार्य यह है कि वह कहे कि प्रान्तीय भाषा में भी काम करें। मैं इसका खुले दिल से समर्थन करता हूं और आशा करता हूं कि आप इस को मंजूर करेंगे"। प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। और इस के पश्चात् ६ठे प्रस्ताव को उपस्थित करते हुए सांवलिया विहारी लाल जी ने कहा :—"सभापति महोदय तथा मित्रगण, मैं कोई वक्ता नहीं हूं फिर मेरे लिये यह प्रस्ताव उपस्थित करना बड़ा कठिन है। मैं तो समझता था कि बाबू शयाम सुन्दर दास उपस्थित करेंगे, लाला भगवानदीन उपस्थित करेंगे और समर्थन मेरे लिये रक्खा जायगा। विषय गहन है, और जो प्रस्ताव उपस्थित करता हूं वह विद्यापीठ के बारे में है (६ठा प्रस्ताव)। इस से कहा जाता है कि कम से कम हर प्रान्त में एक हिन्दी विद्यापीठ हो जिस में सम्मेलन की परीक्षा के पाठ्य-क्रम के अनुसार शिक्षा दी जाय अच्छा तो होता यदि ऐसा प्रान्त प्रान्त में होता। यदि प्रयत्न किया जाय तो प्रत्येक प्रान्त में एक हिन्दी विद्यापीठ स्थापित हो सकता है। आप को विदित होगा कि जब से हिन्दी साहित्य आन्दोलन आरम्भ हुआ तब से प्रत्येक प्रान्त में विद्यापीठ स्थापित हुए। हमारे प्रान्त में विद्यापीठ, विहार में विहार विद्यापीठ है। जहां तक समझते हैं प्रारम्भिक परीक्षा और मध्यमा की परीक्षा भी वहां पढ़ायेंगे। अन्य प्रान्तों में भी ऐसाही करेंगे। विहार में ऐसे कई प्रस्ताव हुए हैं कि सम्मेलन की शिक्षा दी जाय। प्रान्त २ में प्रयत्न करने से यह कार्य सिद्ध हो सकता है।" इसका समर्थन करते हुए श्री लाला भगवानदीन ने कहा:—"सभापति महोदय, भाइयो, और सभ्य सज्जन गण, जो प्रस्ताव आप लोगों के सामने हमारे प्रिय भाई ने उपस्थित किया है उसका अनुमोदन करने के लिये मुझे आज्ञा हुई है। आप लोग बहुत अच्छी तरह समझ सकते हैं समझाने की आवश्यकता नहीं कि जितने प्रकार की उन्नति हो सकती है वह दुनिया में एक विद्या के द्वारा हो सकती है और किसी प्रकार की विद्या, किसी प्रकार का भी ज्ञान, किसी प्रकार की मस्तिष्क की उन्नति विद्यापीठ के ही द्वारा हो सकती है। और तरीक़ों से भी विद्या का अभ्यास हो सकता है परन्तु विद्यापीठ में आचार्य के मुख से सुनकर, पुस्तकालय की सहायता से जो अभ्यास हो सकता है वह अच्छा होगा। और भी बहुत से फ़ायदे हैं जो विद्यापीठ के स्थापित होने से हो सकते हैं। इसलिये सम्मेलन उचित समझता है कि प्रत्येक प्रान्त में कम से कम एक ऐसा विद्यालय स्थापित करे जिसमें हिन्दी द्वारा, या राष्ट्र भाषा कहिये यदि आवश्यक है, हर प्रकार की ऊंची शिक्षा दी जासके। ऊंची शिक्षा क्या है? आप आजकल के अंग्रेजी कालेजों को समझिये। इससे भी ऊंची शिक्षा हो सकती है। हिन्दी में यदि यह शिक्षा दी जाय तो समय थोड़ा लगे और उन्नति भी अधिक हो और आज स्वराज्य की दृष्टि से जो नेता कार्य कर रहे हैं उनके लिये भी मैदान तैयार हो। मेरा अभिप्राय स्वराज्य से है। आप विचार करके देखेंगे तो मालूम होगा कि भाषा और स्वराज्य का घना सम्बन्ध है। जिनकी भाषा पर दूसरों का अधिकार है जो अपनी भाषा अच्छी तरह नहीं पढ़ सकते, जिनको प्रत्येक प्रकार की विद्या दूसरी भाषा के द्वारा सीखनी पड़ती है उनको क्या

कठिनाई होती है, यह आप से छिपा नहीं है। आपको समझाने की आवश्यकता नहीं है। आप लोगों ने देखा है कि एक विद्यापीठ या साहित्य विद्यालय कुछ भी नाम दे लीजिये इलाहाबाद में मौजूद है। एक आध विद्यालय बनारस में भी हैं उनके द्वारा क्या सेवा कम होती है? यह परीक्षा फल से ज्ञात होगा। सम्मेलन चाहता है कि ऐसे विद्यालय प्रत्येक प्रान्त में हों लेकिन यत्न हो तो प्रत्येक शहर में ऐसे विद्यापीठ कायम हो जायँ। प्रत्येक क़स्बों में ऐसा हो जाय तो नगरनिवासियों को इतनी तालीम दी जा सकती है कि वह आदमी बन जायं। वे सच्चे आदमी बनें और स्वदेशभाव उनमें भर जाय। इसके बिना अपनी भाषा में विद्यापति के ग्रन्थ हम नहीं पढ़ सकते। जो भाव वहां रक्खे हैं वे एक प्रकार से हमारी आंख से दूर रक्खे गये हैं। उनकी ख़राबियां या दोष अथवा गुण हमको नहीं मालूम। इन ग्रन्थों को पढ़ने के लिये ऐसे विद्यापीठों की बड़ी आवश्यकता है। मैं कहता हूं प्रान्त में नहीं शहर शहर में होना चाहिये। सम्मेलन केवल प्रान्त प्रान्त में चाहता है। मैं इसका अनुमोदन करता हूं। आप लोग कदाचित घबरायंगे और कहेंगे कि लाला साहब ने कह तो दिया परन्तु कोई राष्ट्रीय विद्यालय या विद्यापीठ कैसे खुलेगा इस के लिये रुपये का हिसाब नहीं बतलाया। आप लोग, केवल विद्यापीठ एक बड़ा भारी मदरसा होगा इसकी स्कीम सोचकर घबरायें नहीं। इस के लिये लाखों की ज़रूरत नहीं। करना चाहें तो बिना पैसे कौड़ी के एक एक विद्यापीठ एक एक शहर में खुल सकते हैं। अनुभव के तौर पर मैंने यह करके देखा है। बनारस में एक ऐसा विद्यालय स्थापित है जो १०—२० रुपये के खर्च से चल रहा है। वह इस तरह कि कुछ हिन्दी प्रेमी, १० बारह विद्वान् इसको करना चाहते हैं, इसलिये उनकी प्रतिज्ञा है कि एक घण्टे का टाइम देंगे। केवल दो घण्टे पढ़ाई होती है। उसमें से अनेक अच्छे सुपठित लोग निकलते हैं। सभापति महाशय और दूसरे लोग इसका प्रमाण देंगे। कानपुर में यह काम आसानी से हो सकता है। कितने विशारद यहाँ हैं। यह चाहें तो मिल कर पढ़ाना आरम्भ करदें और ४ साल में देखें कितने विशारद पैदा होते हैं। काम करना चाहें तो रुपये की ज़रूरत नहीं है। रुपया थोड़ा काम करता है — काम करते हैं हाथ, दिल और दिमाग़! रुपया कोई चीज़ नहीं। रुपये का रोग मुझे स्वयं लगा हुआ था परन्तु एक मित्र ने मुझे यह बतलाया। नागरीप्रचारिणी के मैदान में बैठकर विद्यार्थियों को पढ़ाता हूं। रुपये की जरूरत नहीं। इस तरह हर शहर में हो सकता है। इतना न हो तो प्रत्येक प्रान्त में तो ऐसा अवश्य करें।"

इसका समर्थन करते हुए श्रीमती सीता देवी ने कहा :— "सभापति महोदय, पूज्य बहिनो और भाइयो, जो प्रस्ताव आपके सामने उपस्थित हुआ है उसे आप समझ चुके। जिस पर बड़े २ अनुभवी विद्वानों ने कहा उसपर मेरा बोलना शोभा नहीं देता परन्तु सभापति महाशय की आज्ञा का पालन करने के लिये दो चार शब्द कहना अपना कर्त्तव्य समझती हूं। मुझे पूर्ण आशा है कि आप क्षमा करेंगे। आपको यह बतलाने की आवश्यकता नहीं समझती कि आप जानते होंगे कि प्रत्येक प्रान्त में एक हिन्दी विद्यापीठ खुलने की कितनी ज़रूरत है। आप स्वयं समझदार हैं और जानते हैं कि देश में मातृभाषा के प्रचार की कितनी आवश्यकता होती है। देश के लिये सब से पहला कर्त्तव्य उन्नति करने के लिए यह है कि मातृभाषा का प्रचार करें। जिस देश के निवासी मातृभाषा को

भूल जांय वहां उन्नति नहीं हो सकती। अपनी खोई हुई सभ्यता को प्राप्त करने के वास्ते अपने पुराने आदर्श की आवश्यकता है। और यह अपनी मातृभाषा के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। हमारे पूर्वज मातृभाषा के ज्ञानी होने के कारण ही पूजे गये और उसकी तिलाञ्जलि देने से हमारी यह दशा है। इसलिये ज़रूरी है कि अपनी मातृभाषा का प्रचार अपनी शिक्षा प्रणाली के द्वारा देश में करदें। आज की गिरी अवस्था का कारण शिक्षा की भूल है। हमारे लड़के अभी माता की गोद को छोड़कर दूसरी माता की गोद में पढ़ते हैं। अपने आदर्श को बदल देते हैं और दूसरे हो जाते हैं। जब तक मातृ भाषा का उत्थान था तब तक हमारा मान था, हमारी शिक्षा प्रणाली अच्छी थी तो हमारे यहां महाराज दिलीप ने एक गैया की क्या सेवा की! भीष्म अर्जुन और कर्ण से वीर शस्त्र विद्या के पाराङ्गत हुए इन सब को लाने के लिए अपनी मातृभाषा का आदर करना होगा। आपकी उन्नति मातृभाषा के उत्थान पर ही निर्भर है। अगर आप फिर उन्नत बनना चाहते हैं, वैसा ही ऊंचा बनने की इच्छा है, मस्तिष्क को वैसा ही करना चाहते हैं तो मातृभाषा का उत्थान कीजिए। स्थान स्थान शहर शहर में विद्यापीठ कायम कीजिए। अब मैं आप का अधिक समय न लूंगी क्योंकि आप दूसरे लोगों के व्याख्यान सुनने को उत्सुक होंगे। बैठने से पहले आपसे प्रार्थना करूंगी कि आप मुझे अपनी छोटी बहिन समझ कर जो भूलें मुझ से हुई हों उनके लिए क्षमा करेंगे।" श्री पण्डित गोपालप्रसाद शास्त्रीजी ने कहा—"सज्जनो इस प्रस्ताव के समर्थन में बहुत कुछ बातें लाला जी ने आप के सामने रखदीं हैं। अब मुझे इस विषय में कहने का मौक़ा नहीं है फिर भी इस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूं कि जिस समय महात्मा गाँधी का आन्दोलन था और लड़कों से कहा गया कि स्कूल कालेजों का बायकाट करें और विद्यापीठ में आवें परन्तु न उनके लिये कहीं विद्यापीठ थी न शिक्षा का प्रबन्ध। आप इस अभाव का अनुभव करते हुए अपने हृदय में इस बात को सोचें कि पहले पहल अपने शहर में उच्च से उच्च शिक्षा देने के लिए विद्यापीठ स्थापित करें। जब तक विद्यापीठ स्थापित न होंगे आन्दोलन में सफलता न होगी। केवल विशारद बनने से काम न चलेगा। नये नये आविष्कारों की ज़रूरत है। अच्छे अध्यापकों का अभाव है। अच्छे अध्यापकों के होने से शिक्षा दी जा सकती है और ऐसी ऐसी चीजें निकलती हैं जैसी निकलना कठिन है। आज आप देखते हैं कि अलगूराय जी ने एक अपूर्व चीज़ की है वह क्या है? वह एक भाषा का स्वरूप है यह अङ्गरेज़ी उर्दू और दूसरी ज़बानों में था परन्तु हिन्दी में नहीं। पण्डित निष्कामेश्वर मिश्र ने इस कमी को पूरा कर दिया। इससे कितना लाभ हुआ है। काशी विद्यापीठ में पढ़ते हुए अध्यापकों के व्याख्यान को नोट करके अलगूरायजी ने किताबें तैयार कर लीं। जब विद्यापीठ स्थापित होंगे तो इस प्रकार के सैकड़ों विद्यापीठ तैयार होंगे। जिन उन्नतियों के लिए आप लालायित हैं उनके लिए ऐसे विद्यापीठ स्थापित कीजिए। इतना ही कह कर मैं इसका समर्थन करता हूं।" इसके बाद श्री अलगूराय ने इसका समर्थन करते हुए इस आशय का भाषण किया कि उच्च शिक्षा का स्वरूप केवल बड़ी ऊंची कविता या दर्शन ज्ञान ही नहीं है। कला कौशल का अंग भूल नहीं जाना चाहिये। "कला बहत्तर ज्ञान की तामें दो सरदार—एक जीव की जीविका एक जीव उद्धार" जहां सूर तुलसी केशव की मनोहर कविता और कबीर का वेदान्त ज्ञान पढ़ाया जाय वहाँ हाथ की कारीगरी का भी ख़याल होना चाहिये। विद्या और अविद्या परलोक विद्या और

लोक-विद्या दोनों होना चाहिए। न कि आजकल के कालेज से शिक्षा प्राप्त प्रोफ़ेसरों और टाइटिल-धारियों की तरह पोइट्री पर ही जीवन समाप्त हो और नौकरी ही आश्रय हो। औरंगजेब और नसीरुद्दीन को जहां क़ुरान की ऊंची फ़िलासफ़ी का ज्ञान था वहां टोपी बनाना भी आता था--- यही शिक्षा का सच्चा स्वरूप है। जो कला मौजूद है उसका प्रचार हो इसके लिए वर्त्तमान हिन्दी शार्टहैण्ड और टाइप राइटिङ्गको आज़माना चाहिये, उसका संशोधन करके उस की उन्नति करनी चाहिये और इसी प्रकार के आवश्यक आविष्कारों से उन्नति करनी चाहिये।" प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। और फिर ८ वाँ प्रस्ताव पेश करते हुए श्रीरामदास गौड़ ने कहा—"सभापति महाशय, देवियो और सज्जनो, एक महाशय कह रहे हैं कि संक्षेप रूप से कहिए। मैं लम्बा चौड़ा व्याख्यान देने नहीं आया हूं। एक आवश्यक प्रस्ताव आप के सामने उपस्थित करता हूं जिसे पढ़कर सुनाता हूं, विचारपूर्वक समझ लीजिए (८ वां प्रस्ताव)। इस प्रस्ताव के दो भाग हैं। पहला भाग यह है कि इस सम्मेलन को जिनके पास प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकें है दान देदें। इस सम्बन्ध में मैं यह कहना चाहता हूं कि नागरी प्रचारिणी और ऐसी दूसरी संस्थाओं ने इस बात का पता लगाने का यत्न किया है कि कौन कौन प्राचीन पुस्तकें कहां कहां मौजूद हैं। लेकिन इन संस्थाओं ने उनके एकत्रित करने का कोई प्रबन्ध नहीं किया है। दूसरा हिस्सा यह है कि इनको एकत्रित करके रखने के लिये एक भवन की आवश्यकता है जहां प्राचीन लेखकों की चीज़ें, दावात, क़लम, खड़ाऊ वग़ैरह एकत्रित की जायें। बाबा तुलसीदास की खड़ाऊँ मिले तो वह संग्रह की एक अच्छी चीज़ हो। सारनाथ (बनारस) में एक प्राचीन संग्रहालय है जहां दो हज़ार वर्ष के पहले के मट्टी के बर्तन, कल, और ऐसी २ चीजें रक्खी हैं। मालूम होता है कि दो हज़ार वर्ष पहले क्या अवस्था थी। संग्रहालय में सब तरह की चीजें होती हैं। हम पुस्तकों की सुरक्षा करके संग्रह करना चाहते हैं और उनको रखने के लिये अपील करते हैं। जो लोग ऐसी पुरानी पुस्तकें रखते हैं और उनका आदर करते हैं उनका कर्त्तव्य है कि वे पुस्तकें सम्मेलन को दे दें। मैंने इसके लिए नम्र निवेदन किया। अगर यह काम गवर्नमेण्ट के हाथ में होता तो क्या दशा होती? आप जानते हैं कि पुस्तकों के प्रकाशक को दो पुस्तकें तो गवर्नमेण्ट को भेजनी होती ही हैं और आगे वह चाहे कई प्रतियें ले ले। ये पुस्तकें क्या होती हैं? ये विलायत जाती हैं और भारतवर्ष के बाहर उनका संग्रह होता है। हमारा अधिकार होता तो हम भी कहते कि राष्ट्र का संग्रहालय है, एक २ दो २ प्रतियें दो, मगर दशा ऐसी नहीं है। हम केवल हिन्दी के नाते प्रार्थना कर सकते हैं। इस संग्रहालय का महत्व तो तब मालूम होगा जब हिन्दी भाषा का इतिहास ५० वर्ष बाद देखा जायगा। भला बतलाइये कि लल्लू जी १८०० के साल में हुए, आगे राजा शिवप्रसाद के ५० वर्ष के ज़माने का एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यह तो दशा है कि ५० वर्ष पहले की लिखी हुई चीज़ों में से एक पत्र भी नहीं रक्खा है। इसी कारण दूसरे हिस्से में जो संग्रहालय का विषय है उसमें आप देखेंगे कि साहित्य की रक्षा करने का विचार है। इसका यह मतलब नहीं है कि कबीर चौरा (बनारस) में जो कबीर साहब की चीज़ें रक्खी हैं उनको बम्बई के संग्रहालय में रक्खा जाय। इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिये कि जिस स्थान पर जो चीज़ रक्खी है उससे हटाकर दूसरी जगह रक्खी जाय। इसका यह भी अभिप्राय नहीं कि संग्रहालय कानपुर या प्रयाग में होगा और बनारस या पटने की चीजें उसमें लाकर रख

हो जायँगी। सम्मेलन एक ऐसा भवन चाहता है जिसमें प्राचीन चीज़ों का संग्रह हो। चाहे एक एक संग्रहालय प्रत्येक नगर में हो। प्रत्येक नगर में स्मारक कायम हो। कितनी लालसा है कि राय देवीप्रसाद का घर देखूं, प्रतापनारायण का स्थान देखूं। यह प्रश्न हो सकता है कि एक स्थान पर संग्रहालय रहने से दूसरे लोग कैसे लाभ उठावेंगे। मगर इसमें कोई कठिनाई नहीं है — लण्डन से निकली हुई एक पुस्तक से हम लाभ उठाते हैं। राजापुर में तुलसीदास के हाथ की लिखी हुई रामायण की एक पोथी है अगर वह मिल जाय और छपाकर उसे प्रचारित किया जाय तो कितना लाभ हो। उसे उठाकर ऐसे स्थानों में रक्खा जाय तो कितनी सुरक्षित रहे। सिव सिंह सेंगर ने शिवसिंह सरोज लिखा अगर संग्रह न होता तो यह ग्रन्थ नहीं मिलता। आज जिसकी कदर नहीं है ५० वर्ष बाद उसी की कदर होती है। २० वर्ष हुए ५० वर्ष में जो उत्सव मनाया जाता है और जुबली कहलाता है लण्डन में मनाया गया, उसमें एक १८६० के पुर्जे की नकल छपी थी उसकी बड़ी कदर हुई। आज हिन्दी साहित्य सम्मेलन को १२ तेरह वर्ष हुए, जब पचास वर्ष बीत जायंगे तो इन सभापतियों के एक पत्र की बड़ी कदर होगी। टण्डन जी का एक पत्र अमूल्य समझा जायगा। इसलिये विद्वानों का काम है कि अग्रसोची बनें— इस की रक्षा का यत्न करें। इस वास्ते प्रस्ताव आप के सामने है। इसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार कीजिये। यह अपील देशवालों से है, जिसका कर्त्तव्य है कि अपने पूर्वजों की कृति की रक्षा करें। इसके लिये २ लाख रुपये के दान की आवश्यकता है। आप इसको हृदय में रखकर सहर्ष प्रस्ताव को स्वीकृत करेंगे।" इसका अनुमोदन करते हुए श्री पुरुषोत्तमराव ने कहा:— सभापति महोदय, सज्जनवृन्द, इस प्रस्ताव के विषय में गौड़ जी ने सब कुछ समझा दिया— मैं क्या कहूं। जब देख रहे हैं कि थोड़ा कहिये-थोड़ा कहिये की आवाज़ आरही है तो मैं समझता हूं कि सभापति द्वारा इन प्रस्तावों का अनुमोदन करा दिया जाय। मैं यह बतला देना चाहता हूं कि बङ्गाल देश में संग्रहालय के लिये विशेष आयोजना है और जब वहां पहले पहल हुआ था तो सर गुरुदास मित्र ने इसके लिये उद्योग किया—उस समय यह भाव जाग्रत न था परन्तु एक दिन हो गया। अगर हम इसके लिये उद्योग करें तो दस बीस वर्ष बाद बहुत आगे बढ़ जायँगे— यदि १० वर्ष पहिले किया होता तो अबतक न जाने कहां होते! आशा है कि आप इसके लिये आवश्यक धन को पूरा करदेंगे। इन्हीं शब्दों में मैं इसका समर्थन करता हूं"। श्री महेशदत्त शुक्ल ने कहा— "प्रिय उपस्थित सज्जन, देवियो और सभापति महाशय, आप के समक्ष जो प्रस्ताव मान्य प्रिय गौड़ जी ने उपस्थित किया है उस में अच्छी तरह समझा दिया है कि उनका संग्रहालय से क्या तात्पर्य्य है। आपने उससे भली भांति जान लिया कि संग्रहालय की कितनी आवश्यकता है। आज आप ने देखा कि मंगलाचरण पारितोषिक बिहारी सतसई पर मिला है। किन्तु पुराने ग्रन्थ नष्ट हो रहे हैं। उनको दान नहीं देते तो पर्याप्त रुपया लेकर दीजिये कि उनकी रक्षा हो सके। अगर बड़े बड़े ज्ञान की समुचित रक्षा करना चाहते हैं तो संग्रहालय बनाने की बड़ी आवश्यकता है। परन्तु इसके लिये द्रव्य की आवश्यकता है। दो लक्ष धन से कार्य्य आरम्भ करना चाहते हैं। इस बड़े संग्रहालय के लिये बड़े धन की आवश्यकता होगी परन्तु "अल्पःक्षेमकरः" इन शब्दों के साथ इसका समर्थन करता हूं"। श्री ईश्वरी प्रसाद ने कहा:— "मान्यवर सभापति महोदय, हिन्दी प्रेमियो, रामदास गौड़ जी ने जो बतलाया है उन बातों के समझाने की कोई

ज़रूरत नहीं रही। ...... में एक लेख निकला था "सर्व संग्रहालय की आवश्यकता है"। वंग-हिन्दी-परिषद् में बड़े बड़े पुराने लेखकों के पत्र मिले हैं। सम्मेलन चाहता है कि एक ऐसा सर्व संग्रहालय हो जिसमें पुराने लेख और दूसरी चीज़ों को एकत्रित किया जाय। १०-२० वर्ष के बाद इससे लाभ उठा सकेंगे। अकसर देखने में आया है कि अमृतबाज़ार पत्रिका के पुराने पत्र जमा करके रक्खे जाते हैं। अध्ययनशील पाठकों को उनसे लाभ होता है। इस तरह हिन्दी पाठकों को ऐसे संग्रहालय से लाभ होगा जिसके लिये रामदास गौड़ ने प्रस्ताव किया है। इसके लिये दो लाख रुपये की आवश्यकता होगी। काम तो बड़ा है न जाने कितना व्यय होगा परन्तु अभी इतने से आरम्भ करना चाहते हैं। इसके उपयोग को देखकर लोग स्वयं इसे बढ़ावेंगे। इन शब्दों में इसका समर्थन करता हूं"। श्री उदित मिश्र ने कहा:— "देखिये, —मेरी तरफ नहीं, (सभापति की ओर दिखाकर) उनकी तरफ! (हँसी ध्वनि)। हाथ उठाने को कहा जाय तो झट उठा दीजिये। रुपये की कमी न रहेगी आप अनुभवी हैं, समझते हैं। देशी रियासतों में बीकानेर में डींगल भाषा बोलते थे। वहां ३,चार सौ कोस तक ऊंटबिना नहीं जा सकते वहां संग्रहालय स्थापित हो तो बड़ा लाभ होगा। डींगल भाषा में ऐसी ऐसी पुस्तकें हैं जो फ्रान्स जर्मनी में भी कठिन हैं। वहां कामधेनु मारवाड़ी जाति बसती है, जितना चाहिये धन लीजिये। सम्मेलन का बड़ा भाग्य है कि ऐसा प्रस्ताव रक्खा है। रुपया ख़ूब मिलेगा इसकी चिन्ता न करें। संग्रह करना बड़ी बुद्धिमानी का कार्य है—"सकल वस्तु संग्रह करो इक दिन आवे काम, समय परे पर ना मिले माटी खर्चे दाम"। प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। इसके अनन्तर स्वीकृत नियमावली पढ़ी गई और स्वीकृत हुई। तदनन्तर व्रजनाथ जी शर्मा ने नवां प्रस्ताव उपस्थित करते हुए कहा:—"सभापति महोदय और पूज्य मित्रो, ऐसे प्रस्ताव के उपस्थित करने की आवश्यकता न होती परन्तु करना पड़ता है (नवां प्रस्ताव)। यह प्रस्ताव है जो आपके सामने उपस्थित किया गया है। जब डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपैलिटी में हमारे मेम्बर और हमारा धन है तो ऐसे प्रस्ताव की कोई ज़रूरत नहीं परन्तु तौ भी यह करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं। जब हम स्वराज्य चाहते हैं तो अपना कर्त्तव्य भली भांति न समझने से बुरी दशा होगी। एक बार म्युनिसिपैलिटी की एक आज्ञा उर्दू में एक आदमी के लिए निकली कि टैक्स नहीं, अदा करदोगे तो, अमुक तिथि पर तुम्हारा सब ज़ब्त कर लिया जायगा। वह आदमी हिन्दी पढ़ा था। उसकी बड़ी हानि हुई। आज्ञा हिन्दी में होती तो ऐसी अवस्था न होती। इस लिए जब हमारा ही धन जन डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपैलिटी में है तो हमारा क्या कर्त्तव्य है कि इनकी कार्यवाही, नियम और उपनियम हिन्दी में हो। मैं आशा करता हूं आप इसे स्वीकृत करेंगे और इस प्रस्ताव की प्रतिलिपि सब जगह भेजेंगे"। श्री गोपालस्वरूप जी ने इसका समर्थन किया और प्रस्ताव पास हुआ। १० वां प्रस्ताव करते हुए श्री चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद ने कहा:—"बात यह है कि प्रयाग म्युनिसिपैलिटी ने सबसे अग्र होकर स्त्रीशिक्षा में भाग लिया है और उनकी परीक्षा का प्रबन्ध किया है। विद्याविनोदिनी स्त्रीशिक्षा ने सम्मेलन की परीक्षा में भाग लिया है। इसके लिये उसे बधाई देता हूं। प्रयाग म्युनिसिपैलिटी का दूसरी म्युनिसिपैलिटियें अनुकरण करेंगी। मैं बधाई का यह प्रस्ताव उपस्थित करता हूं। आशा है, आप स्वीकृत करेंगे"। श्री रैना जी ने इसका समर्थन करते हुए कहा:—"सभापति जी, और उपस्थित महानुभावो, चतुर्वेदी जी ने जो प्रस्ताव उपस्थित किया है उसे आपने सुन लिया। मैं आशा करता

हूं कि आप इस प्रशंसनीय कार्य के लिये अवश्य बधाई देंगे। वह कार्य यह है कि प्रयाग म्युनिसिपैलिटी ने जो कुछ कार्य किया है वह स्त्री शिक्षा और राष्ट्रभाषा के लिये किया है। इस लिये सम्मेलन अपना कर्त्तव्य समझता है कि उसे बधाई दे कि उसने यह काम किया। जब प्रयाग विश्वविद्यालय में हमारे भाइयों को अधिकार हो गया है तो वहां भी सम्मेलन का कार्य होगा। जैसा सम्मेलन ने अभी इस बात से अनुभव किया है। आप प्रयाग म्युनिसिपैलिटी को बधाई का प्रस्ताव स्वीकृत करें और अन्यान्य म्युनिसिपैलिटियों पर भी दबाव डालें कि वह उसका अनुकरण करें"। प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। तदनन्तर श्रीरामजीलाल शर्मा ने गत वर्ष का कार्य विवरण पढ़ा—पढ़ने से पूर्व उसके देर में पढ़ने के लिये क्षमा मांगी। श्री कौशिक जी ने श्री हरिहर शर्मा जी को दिये गये पदक की घोषणा की और हरिहर शर्मा जी ने कहा कि वे मद्रास से सहायक कार्य कर्त्ताओं की पर्याप्त संख्या के लिए यहां आये थे कि जिन को साथ लेकर वहाँ कार्य कर सकें। पदक उनको सन्तोष नहीं दे सका। इसके पश्चात् श्री दुलारेलाल भार्गव जी ने आगामी सम्मेलन को लखनऊ में निमन्त्रित किया परन्तु देहली का निमन्त्रण भी पहिले का था यद्यपि इस समय देहली का कोई व्यक्ति निमन्त्रित करनेवाला न था। कुछ लोग चाहते थे कि देहली में ही सम्मेलन हो। वादविवाद से यह स्थिर हुआ कि स्थायीसमिति कुछ समय के बीच में देहली से जाँच बूझ कर कि वहाँ सम्मेलन होगा या नहीं दुलारेलाल जी को लिखदे और उनका निमन्त्रण स्वीकार हो। राधावल्लभ की कविता पढ़ी गयी। इसके अनन्तर स्वयंसेवकों के नायक ने कहा:—"सज्जनो, आज साहित्य सम्मेलन का अन्तिम दिवस है। मेरे स्वयंसेवकों ने आप की सेवा में जो त्रुटियें की हैं उन्हें आप क्षमा करेंगे। बालकों से त्रुटियें होती हैं आप उदार हैं क्षमा करें। मैं इस योग्य नहीं हूं कि जो काम लिया था उसकी त्रुटियों के लिये भी आप से क्षमा माँग सकूं।" अन्त में सभा विसर्जित करते हुए श्री सभापति महाशय ने कहा:— "सम्मेलन का प्रारम्भ करके आज उसकी समाप्ति का कार्य करना है। आज सम्मेलन का तीसरा दिन है। मैंने सम्मेलन का आरम्भ करते हुए आप सब सज्जनों से रक्षा की प्रार्थना की थी। मैं जानता था कि मुझ में बहुतसी त्रुटियें हैं, यह भी जानता था कि मैं इसको पूरा नहीं कर सकूंगा। आपको धन्यवाद देता हूं कि आपने सहायता दे कर इसको पूर्ण किया है। अपनी त्रुटियों को जानते हुए मैं कहूंगा कि मेरे भाइयों का कार्य प्रशंसनीय है। केवल एक बात कहूंगा कि प्रत्येक मनुष्य की सम्मति एक विषय में एक नहीं होती। एक मनुष्य की कुछ सम्मति है दूसरे की कुछ। चाहे आप यह समझें कि कोई बात सभापति की योग्यता से मैंने कही जो आपकी सम्मति से ठीक न थी। इसमें मैं इतना ही कहूंगा कि इसमें जो त्रुटि है उसका ख्याल न करके भाव को देखिए। जानबूझ कर मैंने आपके प्रतिकूल नहीं किया। अन्त में मैं कानपूर के भाइयों ने जो आदर मुझे दिया है उसे शब्दों में कैसे कह सकता हूं। मै इस योग्य नहीं हूं परन्तु ईश्वर से प्रार्थना करूंगा कि इस कार्य को करने में मुझे समर्थ करे। स्वागतकारिणी समिति ने जो कार्य किया है उसके लिए उसको धन्यवाद देता हूं। मुझे गणेशशंकर विद्यार्थी का नाम सबसे पहिले याद आता है—पहिले भी कहा था, अब भी कहे बिना नहीं रह सकता। उनका वियोग मैं सहन नहीं कर सकता। इस सम्मेलन का विचार लखनऊ जेल में हुआ। हम दोनों आदमी एकही बारक में रक्खे गये थे। उन्होंने कहा था कि खूब काम होगा। मगर जब काम का समय आया तो वह अलग हुए।

स्वागतकारिणीसमिति पर कुल भार आया फिर भी भोजनादिका जो प्रबन्ध उसने किया उसके लिये उसका बड़ा धन्यवाद करता हूं। लाला फूलचन्द, भगवानदास जी, छन्नूमल जी, चम्पालाल जी, हीरालाल जी को धन्यवाद देता हूं जिन्होंने सारा भार लिया था। और कार्य-कारिणी समिति के मित्रों को नहीं भूल सकता, उनमें कौशिक जी प्रधान हैं. कैसे दृढ़ हैं मैंने देखा है। उनके साथ साथ वाजपेयी जी कभी थोड़े समय को भी न पाकर सम्मेलन में आसके। मैं नहीं जानता किन शब्दों में उनको धन्यवाद दूं। इतनाही विश्वास दिला सकता हूं कि दिल में उनका प्रेम है और जाकर भी उस प्रेम को स्मरण करूंगा। अन्त में मैं स्वयंसेवक दल को धन्यवाद देता हूं। इन प्यारे छोटे २ बालकों ने जो देश के प्राण हैं कैसी भक्ति से, दृढ़ता से रात २ जाग कर, धूप में दौड़ कर सेवा की है! इनके कार्य को देख कर प्रसन्न हूं और ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि बड़े हो कर यह मातृभाषा के सच्चे सेवक बनें। जिससे उसका उत्थान हो। अन्त में सबको धन्यवाद देकर सम्मेलन का कार्य समाप्त करता हूं।"

इत्योमृशम्।

अलगूराम,
काशीविद्यापीठ।
२६—५—२३

व्रज भाषा और खड़ी बोली।

व्रज भाषा।

व्रज भाषे, हों भूल सकत कबहूं नहिं तोकों
तेरी महिमा और मधुरिमा मोहत मोकों
वह विन्द्राबन, नन्दगाँव, गोकुल, बरसानों,
जहां स्वर्ग को सार अवनितल पै सरसानों
वे कालिन्दी-कूल, कलित कलरव वा जल को
झलकत जामें स्याम बरन अजहूं स्यामल को
वे करील के कुञ्ज चीर उरझावन वारे
रहे जहां बलवीर आप सुरझावन वारे
वह केकी-पिक-कूक हूक चातक की रटना
सांझ सवेरे नित्य नई पनघट की घटना
धेनु-धूरि में मोर मुकुट वारी वह झांकी
घूंघट-पट की ओट, चोट-सी चितवन बांकी
वह कदम्ब की छांह, मेह-झर थोरी थोरी
दिये जहाँ गर बाँह सांवरी-गोरी जोरी
वह वसन्त की ब्यार, सरद की सुन्दर पूनों
नटनागर को रास-रहस वह दिन दिन दूनों
आंस-गाँस सों भरी, सांस-सी फूंकन वारी
हरे बाँस की पोर हाय! हरि का वह प्यारी
वह गोपिन को प्रेम सुनेम निबाहन वारो
ऊधौ को सब ज्ञान गरव-गिरि-ढाहन वारो
व्रजभाषे, ये सबै नाम में निवसें तेरे
भव में आये भाव-विभव सब दिवसें तेरे
रस-गोरस की धार बही है जाके ऊपर
जनमी है तू सुकृतसालिनी ऐसी भू पर
माखन-मिसरी पाय पली है बड़ भागिन तू
राग भरी है सहज सुरीली हे रागिन, तू
तब तो तोंको सकल प्रदेसन नें अपनायो
को है ऐसो जाहि गान तेरो नहिं भायो?
तेरो पद-विन्यास विदित जनु रतन जड़त हैं—
"गली सांकरी माय, काँकरी पाय गड़त हैं"
तेंने केते सरस-सलोनें ग्रन्थ लिखाये
प्रेम-भक्ति के हाव-भाव सब हमें दिखाये
पै अब हा! वह समय कबहुं को वीत गयो है
गोरस को भण्डार हमारो रीत गयो है
बजत नाहिं अब और चैन की बंसी घर घर
भय-विषाद सों भरो हियो कांपत है थर थर
वह पराग को पुञ्ज मदन-ध्वज-तट न उड़त है
धुवांधार यह देख कौन को जीव जुड़त है?
तन सों, मन सों हाय! सबै परतन्त्र बने हैं

जन्त्र मनुज बनि गये, मनुज जड़ जन्त्र बने हैं!
ताहू पै निर्वाह नाहिं दीसत है अबतो
नित्त निरासा हाय! हियो पीसत है अबतो
तेरो कोमल कण्ठ सहै गो यह सब कैसे?
कोयल की कल कूक भार झंझा की जैसे!
रूखी-सूखी तोहिं रुचैंगी का ये बातें?
या असान्ति-या क्रान्ति-काल की घनसीं घातें!
या युग के प्रति मौन मात्र है उत्तर तेरो
स्रान्त न हो, अब बैठ, बिछो विनयासन मेरो
जो तेरी या बहन खड़ी है तेरे आगे
दै या कों आसीस और का अब हम माँगें!
या को पालन भयो याहि युग में है ता तें
या तें रैहैं छिपी न याकी बातें-घातें
तें सिंगारी गई सुकवियन तें है जैसें
अब याहू को भाग भावती, जागै तैसें
देव-बिहारी सरिस सुकवि सरसें याहू में
पद्माकर के शब्द-चित्र दरसें याहू में
केसव, दास-समान यहू आचारज पावै
आरज कुल को भाव भली विधि या में भावै
कबहूं रस-निधि नाहिं नेंक हू खूटै या को
मो जैसिन सों पिण्ड अन्त में छूटै या को

खड़ी बोली।

तो आजा, अब अरी खड़ी बोली, तू आजा
कड़ी क्यों न हो, नहीं पड़ी बोली तू, आजा
कठिन काल में हमें कठिन ही होना होगा
रगड़ रगड़ कर मैल मोह का धोना होगा
यह सोने का जन्म न सोकर खोना होगा
इस मिट्टी का पुनः देखना, सोना होगा!
फिर अपना संसार सुदीर्घ सलोना होगा
जिसका वह सुरलोक एक लघु कोना होगा!
कान खोल कर सुनें खड़ी बोली, सब तुझको
निखिल निसर्ग-निदेश सुनाना है अब तुझको
है सच मुच तू खड़ी आप तो हमें खड़ाकर
व्यापक है तो हमें बढ़ा तू और बड़ाकर
जीवन-जड़ जंजाल न तुझसे रहने पावै
अपने मन की बात मनुज-कुल कहने पावे
कोई ऐसा सुमन न हो जो खिले न तुझ में
कभी अर्थ की कमी किसी को मिले न तुझमें
तेरा सञ्चित कोष बराबर बढ़ता जावे
कभी दीनता और हीनता फटक न पावे
ईश्वर का उद्देश्य सुना! तू हम को सुख से
और हमारी विनय सुनें वह तेरे मुख से
कहना सब सुस्पष्ट, सरल शब्दों में, खुल कर
बनकर रहें सुवर्ण वर्ण-कांटे पर तुल कर
और भाव? भगवान भाव देनेवाला है
"कविर्मनीषी" स्वयं जन्म लेने वाला है
बन विभु की सन्देशदायिनी, बन तू दूती
गद्य-पद्य में बोल उठे तेरी ही तूती
है तेरा कर्तव्य कठिन, यह भूल न जाना
करना तोड़-मड़ोर न तू, निज नियम निभाना
तुझे पत्र-रचना न कपोलों पर करनी है
जीवन-रण में आज यहाँ तेरी वरनी है
मधुर अधर-रस भूल आप आंसू पीना है
लौटा कर वह निगत ज्ञान-गौरव जीना है
तुझे कर्म्म के लिए कर्म्म में रत रहना है
सत्य-धर्म्म का मर्म निडर होकर कहना है
तेरे चित्रित चारु चित्र में चरित्रता हो
नायक हो मनुजत्व, नायिका पवित्रता हो
समझ झोपड़े को न कभी कम राज-भवन से
कृषकों का हित सिद्ध किया कर तन से-मन से
सदाचार के गीत गान कर, पुण्य-पठन कर
होती रहें पुनीत पीढ़ियाँ चरित-गठन कर
वज्रनाद से कर विरोध अत्याचारों का
हृदय हिला दे हठी, हेकड़ों, हत्यारों का
बनें जहाँ तक मेट विश्व की विकट विषमता
कर समता की वृद्धि बढ़ाकर ममता-क्षमता
स्वावलम्ब के भूरि भाव हम सब में भर दे
रहें न हम परतन्त्र हमें बस, ऐसा कर दे
त्याग और बलिदान हमारे जीवन-धन हों
जगे, प्रेम में पगे, साहसी, संयत मन हों
शुचि, स्निग्ध, गम्भीर गान सुन कर हाँ तेरा

आत्म-भाव जग उठे, मोह का मिटे अँधेरा
रख तू उच्चादर्श देश के सम्मुख सारे
जिन पर कोई जाति गर्व कर सब कुछ वारे
सच तो यह है कि तू हमें वह अमृत पिला दे
मृतकों को भी एकबार जो यहां जिला दे
बन जा वह निर्दोष घोषवाली घनमाला
जिसमें जल हो और साथही जलती ज्वाला
विभु की बाहें बढ़ें और वे तुझे निबाहें
चाहें तेरा पद-स्पर्श उन्नति की राहें
तुलसी-सूर-समान सिद्ध कवि तू भी पावे
तेरा सत्साहित्य-गगन नवरस बरसावे

तथास्तु

मैथिलीशरण गुप्त।

ओ३म्

हिन्दी भाषी हिन्द के हिन्दू

दोहा।

यद्यपि हिन्दी हिन्द के, मूल न वेद पुराण।
तो भी हम हिन्दू हुये, बिन प्राचीन प्रमाण ॥१॥
श्री तुलसी गोस्वामि लों, भूत पूर्व कवि लोग।
कहिये हिन्दू शब्द का, किसने किया प्रयोग ॥२॥
शाही-बल-धारी-मियाँ, हाय हुये कृतकार्य।
हा हमको हिन्दू किया, नाम मिटाकर आर्य ॥३॥

षट पदी छंद।

धन्य लोक अभिराम, धर्म धरणी पर आया।
भारत का धर नाम हिन्द इसलाम कहाया ॥
मान महत्व बिसार, घृणित हिन्दूपन धारा।
करता क्यों न उतार, गिरा कर ज्ञान हमारा ॥
हम हिन्दू हिन्दी बोलते, निरखें उरदू की अदा।
रस दो बाणी में घोलते, लिखते पढ़ते हैं सदा ॥४॥

दोहा।

शंकर सारे हिन्द का, हित कर हिन्दू धर्म।
पद हिन्दी साहित्य का, उगल रहा है मर्म ॥५॥
अब तो हिन्दू हिन्द के, होकर वृषभारूढ़।
हिन्दी को अपना रहे, गाय गर्व गुण गूढ़ ॥६॥
भागा भारतवर्ष से, हुआ आर्य-बल दूर।
भर दे हिन्दी हिन्द में, हिन्दूपन भरपूर ॥७॥
हेकड़ हिन्दू शब्द का, अटका दैशिक अर्थ।
हुये विदेशी कोश के, भीरु-भाव असमर्थ ॥८॥
जिस पे लादा भूल ने, भ्रम का भार अतोल।
उस हिन्दी को हिन्द का, हिन्दू बनकर बोल ॥९॥
सम्मेलन की ओर से, उत्तर हो यदि मौन।
शंकर तेरी बात को, फिर समझेगा कौन ॥१०॥

नाथूराम शर्मा (शङ्कर)

विशेष सूचना—प्रत्येक दोहा का प्रत्येक दल ८+८ अक्षरों के विरामों से १३+११=२४ मात्रा पूरी करता है। षटपदी के पहिले ४ चरण ८+६ अक्षरों के विरामों से ११+१३=२४ मात्रा पूरी करते हैं। पिछले २ चरण ६+६ अक्षरों के विरामों से १५+१३=२८ मात्रा पूरी करते हैं। षटपदी के मध्य विरामों पर भी क़ाफ़िया मिले हैं।

(शङ्कर)

(१)

बाज़ारों में मूड़ रही बैठी मुड़िया है
चिड़िया बनकर उड़ी उड़ीसा में उड़िया है
कहीं गुरमुखी और कहीं तिलगू गुड़िया है
कहीं विदेशी रांड़ खांड़ की सी पुड़िया है
संस्कार वश मृतक वत पड़ी संस्कृत है कहीं
प्राकृत अपने रूप में मिली अर्द्धमृत है कहीं।

(२)

नैपाली है कहीं नयी आफ़त पाली है
गोरी ग्राम्या कहीं मिली भोलीभाली है
हिन्दुस्तानी गढ़ी लिखी जाती जाली है
ये सब ताले खुलें नहीं ऐसी ताली है
प्रान्त प्रान्त में पार्श्व में भारी भाषा-भेद है
भारत तेरी यह दशा देख सभी को खेद है

(३)

अन्धे गूंगे बधिर चटोरे आस्वादक हैं
कविता से अनभिज्ञ सु-कवि हैं सम्पादक हैं

अनुवादक हैं भरे विवादक अपवादक हैं
ये पद भी अब हुए अहा कितने मादक हैं
सम्पादक को ईश से अधिकाधिक अधिकार है
कितना अत्याचार है कितना स्वेच्छाचार है

(४)

कुछ तुलना के लिए विदेशी तुला लिये हैं
कुछ नयनागर नये नया ही नशा पिये हैं
हिन्दी हित की कठिन प्रतिज्ञा आप किये हैं
किन्तु किये दृग बन्द किस तरह ध्यान दिये हैं
तुलना तुलसीदास की यदि भूषण के साथ है
तो सचमुच कलिकाल में शशि पूषण के साथ है

(५)

ग्रन्थप्रकाशक नहीं यहां द्रव्योपासक हैं
आलोचक भी बने निरङ्कुश दुःशासक हैं
हुई रुचिर रुचि भ्रष्ट धृष्ट मृतकोपासक हैं
पथ-दर्शक हैं नहीं विनाशक उपहासक हैं
सरस्वती के नाम पर सत्ता का सत्कार है
वह उनका व्यापार है यह इनका व्यवहार है

(६)

अमित जवासे सजल जलद लखि जल जाते हैं
गिर कर उपल समान दुष्टदल गल जाते हैं
चालबाज़ चालाक चाल कुछ चल जाते हैं
सब को यह व्यवहार खलों के खल जाते हैं
कोकिल से कुछ कम नहीं अपने मन में काग है
अपनी अपनी ढाफली अपना अपना राग है

(७)

खड़ी हो चुकी खड़ी किन्तु कुछ तुतलाती है
पड़ी पड़ोसिन उसे पकड़ कर झुंझलाती है
नुक़ताचीनी हुई फांसता फुसलाती है
तू है बड़ी ग़रीब कहाँ से रस लाती है
सुन, तेरे अधिकांश में अपभ्रंश भरपूर है
राष्ट्रीय भाषा बनूं इस मद में क्यों चूर है

(८)

कहा अन्य ने अभी यहाँ माधुरी नहीं है
चञ्चलता है निरी किन्तु चातुरी नहीं है
है यह काशीपुरी इन्द्र की पुरी नहीं है
पर जिसको जो रुची भली है बुरी नहीं है
अपनी अपनी रीति है अपना अपना प्रेम है
अपनी अपनी नीति है अपना अपना नेम है

(९)

उर्दू बी के साथ किसी के नयन लड़े हैं
कुछ प्रमयी प्राचीन पड़ी के साथ पड़े हैं
कुछ बड़भागी बने बड़ी के साथ बड़े हैं
कतिपय प्रेमी सुकवि खड़ी के साथ खड़े हैं
जिसका जिसपर प्यार हो वही गले का हार हो
सुने सुखी संसार हो वाणी में वह सार हो

(१०)

वह व्रज-वनिता बनी भले व्रज में गाती हो
गुज़र गयी गुजरात भले ही गुजराती हो
करे मेहर की नजर मरहठी मन भाती हो
बँगला हो वह और बगल में इठलाती हो
प्रभुता पटुता से भरा जिसका पूर्ण प्रबन्ध है
वही पूज्य पाठ्य है जिसमें सरस सुबन्ध है

(११)

प्यारी है मालिनी किसी की बड़ी बहर है
कोई सरित समीप किसी के निकट नहर है
ग्राम्यवास है रुचा किसी को रुचा शहर है
उर अम्बुधि उठी सभी के नई लहर है
कौन कौन किस कार्य में कब कितना कृतकार्य हो
शिष्य कौन हो अन्त में कौन आर्य आचार्य हो

(१२)

महाकाव्य ही नहीं अन्त में प्रास नहीं है
कैसे हो स्वीकार ग्राह्य यह ग्रास नहीं है
क्या इस में सब भाँति शक्ति का ह्रास नहीं है
तुकबन्दी बेतुकी हुई कुछ भास नहीं है
जो शृगाल भी है नहीं कहते हैं वह शेर है
यह हिन्दी-संसार में मचा हुआ अन्धेर है

(१३)

कहीं शब्द प्राचीन किन्तु व्याकरण नया है
एक चरण प्राचीन दूसरा चरण नया है

भाषा है प्राचीन रचा आभरण नया है
प्रकरण है प्राचीन और आवरण नया है
जिधर देखता हूं उधर भरी ढोल में पोल है
रद्दी काग़ज़से अधिक रखती अपना मोल है

(१४)

कहीं कार्यक्रम भंग कहीं यति भंग हुआ है
रद्दी हुई रदीफ़ क़ाफ़िया तङ्ग हुआ है
रंग हुआ बदरंग अङ्ग में व्यंग हुआ है
ख़ूब पटेगी चोर चोर का संग हुआ है
गीली ग़ज़लों की ग़िज़ा भायी जिनके चित्त में
उन्हें कहीं मिलता नहीं कुचित कवित्व कवित्त में

(१५)

आता है जब भाव हाथ से तुक जाती है
बार बार इस भाँति लेखनी रुक जाती है
यों ही सारी शक्ति व्यर्थ ही चुक जाती है
पर सब की रुचि उसी ओर को झुक जाती है
प्रस्तुत यह प्रस्ताव है पल में अनुमोदन हुआ
पर इससे क्या लाभ है सब अरण्यरोदन हुआ

(१६)

कैसे पड़े प्रभाव पदों में भाव नहीं है
संचय है कुछ नहीं चयन का चाव नहीं है
कविगण ठण्डे पड़े तनों में ताव नहीं है
कैसे होंगे पार नदी है, नाव नहीं है
खीझ खीझ खोजी चले रोज ओज की खोज में
कर न सके पहचान वे पर भुजवा में भोज में

(१७)

अभिनय आख्यायिका लेख या गीत गल्प हो
है यदि वह रस सहित श्रेष्ठ है भले स्वल्प हो
करदे कायाकल्प कल्पना भरा कल्प हो
जल्पक का वह पर न जल्पना भरा जल्प हो
सत्य हों मन वच कर्म से, कितने कुशल कवीन्द्र हैं
खोजो तो उनमें अभी, कितने छिपे रवीन्द्र हैं

(१८)

हो उपयोगी शब्द और अपनी शैली हो
हो वह मुकुलित कली सुरभि जिसकी फैली हो
मञ्जुल माला बने न वह सूखी मैली हो
हो भावों से भरी न शब्दों की थैली हो
विश्रुत व्यापक रूप में सब की भाषा एक हो
अपना अपना गीत हो अपनी अपनी टेक हो

(१९)

सचमुच सुकृती सुकवि कभी असमर्थ न होगा
गत चरित्र का यत्न कभी अव्यर्थ न होगा
होगा बड़ा अनर्थ अर्थ से अर्थ न होगा
क्या उसका उद्योग वस्तुतः व्यर्थ न होगा
ललना लतिका लाल में किसमें क्या लालित्य है
गहरे घुसकर देख ले शुचि समुद्र साहित्य है

(२०)

जो कवि जितना अधिक विषय से दक्ष रहेगा
सन्तत सब से उच्च उसी का लक्ष रहेगा
सब प्रकार से सबल उसी का पक्ष रहेगा
विफल न होगा कभी सफल प्रत्यक्ष रहेगा
हिन्दुस्थानी वेश में रुची न उसको मेम हो
डिगरी की डिगरी न हो प्रभो ! कुशलो क्षेम हो

राजाराम शुक्ल

हिन्दी

(१)

भारत का होगा भला भेदभाव भूलने से,
मातृ-भाषा हिन्दी राष्ट्र-भाषा-पद पायेगी।
पूर्णतया प्रेम की पवित्रता प्रकट होगी,
राष्ट्र में राष्ट्रीयता की ध्वजा फहरायेगी,
जननी के जन जान जायँगे जनैकता को;
जीविति जातीयता की जड़ जम जायेगी।
हर्षित हो हिन्द हिन्दियों को धन्यवाद देगा;
हृदय का हार हुई हिन्दी हुलसायेगी।

(२)

सीधी सादी बोलने में कौन भाषा सिद्ध हुई ?
अधिकांश जनता में किसका है अधिकार ?

कौन भाषा आधिपत्य अपना जमाये रही—
वार झेल २ के विरोधियों के बार बार ?
सर्वथैव हिन्दी ही को हुआ ये सौभाग्य प्राप्त,
आज भी सुपुत्र योग्य जिसके हैं बे-शुमार
माता के समान नाता जिससे लगाता मन
क्यों फिर बनाता उसे वह न गले का हार ?

(३)

दूर हुई दीनता नवीनता निराली मिली,
सुखद स्वाधीनता को संगिनी बना ली है।
चटकीले, भड़कीले, नीले, पीले, भूली पट ;
समयानुकूल सादी खादी अपना ली है।
परवश पड़े नर रसों का ज़माना कहाँ ?
सुन्दर आभूषणों से प्रीति भी हटा ली है;
व्यवहृत योग्य बनी, स्वच्छ साम्यता में सनी,
हिन्दी भाषा हिन्द को स्वराज्य देने वाली है।

(४)

हिन्दी ही की हर ओर बोलने लगी है तूती,
धाक अन्य देशों में भी अपनी जमा रही।
राष्ट्र की सभा भी प्रभा इसकी पसार रही ;
कर रही काम और नाम भी कमा रही।
चपला की शक्ति सम हिन्दियों के हृदयों में ;
हिन्दी की अनूठी भक्ति-भावना समा रही ;
चन्द्र की कला की भाँति विश्व में उजागरी हो,
नागरी गुणागरी की फैल सुषमा रही॥

द्वारिकाप्रसाद गुप्त 'रसिकेन्द्र'

प्रतिनिधियों की नामावली।

संयुक्त प्रांत।

सं०	नाम	पता
१	श्री भगवानदीन	काशी
२	,, वृन्दावनसिंह	,,
३	,, चन्द्रिका प्रसाद शर्मा	,,
४	,, चूड़ामणि प्रसाद वर्मा	,,
५	,, बदरी नाथ पाण्डेय	काशी
६	,, बेचन शर्मा 'उग्र'	,,
७	,, श्री कृष्ण शुक्ल	,,
८	,, प्रो० रामदास गौड़ एम० ए०	,,
९	,, देवाचार्य विशारद	,,
१०	,, रामचन्द्र शर्मा	,,
११	,, ब्रजरत्न दास	,,
१२	,, बलराम उपाध्याय बी० ए०	,,
१३	,, श्याम सुन्दरदास बी० ए०	,,
१४	,, लक्ष्मी नारायन	,,
१५	,, जीवन शंकर याज्ञिक	,,
१६	,, गंगा प्रसाद मेहता	,,
१७	,, शिवविनायक मिश्र	,,
१८	,, मुकुन्ददास	,,
१९	श्री दीन दयालु बी० ए०	प्रयाग
२०	,, हरिहर शर्मा	,,
२१	,, भागीरथ प्रसाद दीक्षित	,,
२२	,, सत्यप्रकाश विशारद	,,
२३	,,	
२४	,, प्रो० वेनी प्रसाद एम० ए०	,,
२५	,, भगवती प्रसाद	,,
२६	,, श्री रामाधार द्विवेदी	,,
२७	,, द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी	,,
२८	,, जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल	,,
२९	,, रामजी लाल शर्मा	,,
३०	,, लक्ष्मीप्रसाद पाण्डेय	,,
३१	,, लक्ष्मीनारायन नागर	,,
३२	,, प्रो० गोपाल स्वरूप भार्गव	,,
३३	,, सूरजप्रसाद खन्ना	,,
३४	,, सिद्धनाथ दीक्षित	,,
१४२	,, भवानीप्रसाद गुप्त	,,
३५	,, नवलकिशोर भारतीय बी०ए०	कानपुर
३६	,, महेशप्रसाद बी०ए०एल० एल० बी०	,,
३७	,, देवीप्रसाद नेवटिया	,,
३८	,, जगमोहन विकसित	,,

सं०		नाम	पता
३६	,,	मदनलाल चतुर्वेदी विशारद	कानपूर
४०	,,	नित्यनारायन बी० ए०	,,
४१	,,	मुक्तिनारायन शुक्ल	,,
४२	,,	सी० एल० अय्यर	,,
४३	,,	श्यामविहारी पाण्डेय विशारद	,,
४४	,,	वन्दीप्रसाद शर्मा	,,
४५	,,	राम प्रसाद मिश्र	,,
४६	,,	उदयनारायन वाजपेई	,,
४७	,,	पुरुषोत्तमदास चतुर्वेदी	,,
४८	,,	प्रयागदास चतुर्वेदी	,,
४६	,,	दयाशंकर चतुर्वेदी	,,
५०	,,	देवीप्रसाद श्रीवास्तव	,,
५१	,,	देवीदत्त मिश्र	,,
५२	,,	राजाराम शुक्ल	,,
५३	,,	लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी	,,
५४	,,	मुरारीलाल चतुर्वेदी	,,
५५	,,	रामस्वरूप गुप्त एम० ए० पुखरायां	,,
५६	,,	रामलाल हकीम	,,
१४३	,,	नर नारायण	,,
५७	,,	रूपनारायण पाण्डेय	लखनऊ
५८	,,	प्रो० दयाशङ्कर दुबे	,,
५६	,,	प्रो० आद्यादत्त ठाकुर	,,
६०	,,	दुलारेलाल भार्गव	,,
६१	,,	लक्ष्मीधर शुक्ल	,,
६२	,,	बच्चीलाल	,,
६३	,,	श्रीकृष्णलाल	,,
६४	,,	सुरेन्द्रनाथ तिवारी	,,
६५	,,	कृष्णविहारी मिश्र	,,
			गंधौली सिधौली सीतापुर
६६	,,	विपिनविहारी मिश्र ,, ,,	,,
६७	,,	नवलविहारी मिश्र ,, ,,	,,
६८	,,	सोहनलाल वर्मा नागरी प्रचारिणीसभा	लहरपुर सीतापुर
६६	,,	महावीरप्रसाद श्रीवास्तव	रायबरेली
७०	,,	शिवदुलारे त्रिपाठी मौरावाँ	उन्नाव

सं०		नाम	पता
७१	,,	तुङ्गेश्वर मिश्र मन्धना	कानपुर
७२	,,	रघुबरदयाल विशारद	इटावा
७३	,,	महेशनाथ शर्मा	लखनऊ
७४	,,	गौरीशङ्कर मिश्र	प्रयाग
७५	,,	लालमणि विद्यार्थी	कालपी
७६	,,	सुक्खेमल कपूर	कानपुर
७७	,,	जगन्नाथ सिंह	हरदोई
७८	,,	मदनमोहन दीक्षित	कन्नौज
७६	,,	सुन्दरलाल	,,
८०	,,	बद्रीनाथ भट्ट बी० ए०	आगरा
८१	,,	भवानीशङ्कर याज्ञिक	,,
८२	,,	प्यारेमोहन लाल	गोरखपुर
८३	,,	रामनारायण रावत	,,
८४	,,	गोपीवल्लभ उपाध्याय	बरेली
८५	,,	राजवंशी पाण्डेय देवरिया	गोरखपुर
८६	,,	मथुराप्रसाद खरे	बाँदा
८७	,,	चन्द्रभानु विभव	,,
८८	,,	शिवप्रसाद सिंह	,,
८६	,,	हरिकृष्ण राय	बलिया
६०	,,		
६१	,,	सुदामा पाण्डेय	,,
६२	,,	गौरीशङ्कर त्रिपाठी	बाँदा
६३	,,	व्रजभूषणलाल त्रिपाठी	झांसी
६४	,,	लक्ष्मीसहाँय माथुर	,,
६५	,,	खुदाबख्श चिरगांव	,,
६६	,,	रामचरण श्रीवास्तव	,,
६७	,,	व्रजनाथ शर्मा	आगरा
६८	,,	बाबूराम वित्थरिया	मैनपुरी
६६	,,	रामप्रसाद गर्ग	आगरा
१००	,,	बनारसीदास चतुर्वेदी फ़ीरोजाबाद	,,
४६	,,	शीतलप्रसाद तिवारी विशारद	लखनऊ

विहार।

सं०		नाम	पता
१०१	श्री	रामेश्वरी प्रसाद नागरी प्रचारिणी	सभा बाढ़ पटना
१०२	,,	पीर महम्मद मूनिस	बेतिया चम्पारन

सं०		नाम	पता
१०३	,,	रामधारी प्रसाद विशारद	मुजफ्फरपुर
१०४	,,	राधावल्लभ सहाय	,,
१०५	,,	जगदीशनारायण विशारद	,,
१०६	,,	भगवती चरण	आरा
१०७	,,	अनिरुद्ध लाल कर्मशील ताजपुर	दरभङ्गा
१०८	,,	कन्हैयालाल गुप्त	शाहाबाद आरा
१०९	,,	रामानन्द सिंह	पटना
११०	,,	ऋषीश्वर नाथ रैना	दरभङ्गा
१११	,,	लतीफ़ हुसेन	सरैयागंज
११२	,,	जगदीश झा विमल	मुंगेर
११३	,,	महावीर प्रसाद	,,
११४	,,	ईश्वरीप्रसाद शर्मा	आरा
११५	,,	हरिहर सिंह	,,
११६	,,	वद्रीनाथ वर्मा	पटना
११७	,,	साँवलिया विहारीलाल वर्मा एम० बी० ए०, एल०	छपरा
११८	,,	त्रिपुरारिशरण वर्मा	पटना
११९	,,	गोकर्ण सिंह	,,

बङ्गाल।

१२०	श्री	शुकदेव राय बड़ा बजार	कलकत्ता
१२१	,,	बैजनाथ चतुर्वेदी	,,
१२२	,,	लक्ष्मणनारायण गर्दे बी० ए०	,,
१२३	,,	पुरुषोत्तम दास	,,
१२४	,,		
१२५	,,	जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी	,,
१२६	,,	गंगा प्रसाद भोतिका	,,
१२७	,,	माधव शुक्ल	,,
१२८	,,	माखनलाल चतुर्वेदी	जबलपुर
१२९	,,	रायबहादुर लालविहारी	सतना
१३०	,,	शारदा प्रसाद	,,

जाब

१३१	श्री	जयचन्द्र विद्यालङ्कार	लाहौर
१३२	,,	भगवती चरण विशारद	,,
१३३	,,	पुत्तनलाल विद्यार्थी	,,
१३४	,,	गिरधर शर्मा	लाहौर
१३५	,,	जगन्नाथ प्रसाद पुच्छरत्	अमृतसर

मद्रास

१३६	,,	भाई कोतवाल	ट्रिप्लिकेन मद्रास

राजपूताना

१३७	,,	रामकृष्ण मिश्र विशारद	जयपुर
१३८	,,	हीरालाल शुक्ल ,,	,,

ग्वालियर राज्य

१३९	,,	खाशङ्का शुक्ल	लश्कर ग्वालियर
१४०	,,	युगुल किशोर	,,
१४१	,,	कृष्णगोपाल बाजपेयी	,,
१४२	,,	हरदत्त शर्मा	,,
१४३	,,	रामकिशोर शर्मा	,,

दक्षिण अफ्रीका

१४४	,,	भवानीदयाल	जेकोन्स

आय का लेखा।

	रक़म
गुप्त दान २००) नगद ८००)की पुस्तकें	१०००)
राय बहादुर पं० बलभद्र प्रसाद तिवारी	२९५)
श्री जुग्गीलाल कमलापत	२०१)
,, मम्मन लाल	२०१)
रा० ब० ला० विश्वम्भरनाथ	१०१)
,, विक्रमाजीत सिंह	१००)
बा० रामसनेही सेठ	१००)
ला० जुगुल किशोर	१०१)
श्री० जीवनलाल रंजीतमल	१०१)
,, रामलाल बुलाकीदास	१०१)
,, मोतीलाल रामकुमार	१०१)
,, मदनचन्द रामचन्द खन्ना	१०१)
,, गंगा प्रसाद दुबे	१०१)
,, गोपीनाथ छंगामल	१०१)

नाम	रुपये
श्री० बैजनाथ गोरखनाथ	१०१)
,, लल्लूमल दलाल	१०१)
,, डा० एस० एन० सेन	१००)
,, मातादीन भगवानदास	१०१)
	३०२८

नाम	रुपये
श्री रामाधीन रामचरन	५१)
,, सिद्धेश्वर बलराम	५१)
,, लाल बिहारी श्रीकृष्ण	५१)
,, ललितराम मंगीलाल	५१)
,, लक्ष्मीनारायन गिरधारी लाल	५१)
,, बन्शीधर मनोहरलाल	५१)
,, गोपीनाथ अग्रवाल	५१)
,, मक्खनलाल बजरंगलाल	५१)
,, गंगासहाय गिरधारीलाल	५१)
,, गंगाधर बैजनाथ	५१)
,, बिहारीलाल रामचरन	५१)
,, निहालचन्द बल्देवसहाय	५१)
,, तुलसीराम जियालाल	५१)
,, सालिगराम कल्लूमल	५१)
,, रामनारायण किशुनदयाल	५१)
,, बिहारीलाल मन्नीलाल	५१)
,, गुप्त दान मा० ला० छंगामल जी	५१)
,, रामकुमार रामेश्वरदास	५१)
,, फूलचन्द मोहनलाल	५१)
,, बिहारीलाल भजनलाल	५१)
,, विष्णुदत्त वैद्य	५१)
,, बस्तीराम मातादीन	५१)
,, संतलाल श्रीकृष्ण	५१)
,, ला० पंचमलाल	५१)
,, जगन्नाथ रामचरन	५१)
,, नारायनदास गोपालदास	५१)
,, रामगोपाल गनपतराय	५१)
,, फूलचन्द फतेचन्द	५१)
,, गुलजारीमल रामस्वरूप	५१)
,, गंगाराम बिहारीलाल	५१)

नाम	रुपये
श्री बासुदेव पाटोदिया	५१)
,, राधा किसुन मंगतराय	५१)
,, सूर्य्यबली शुक्ल सराफ़	५१)
,, मंगूलाल रामचरन	५१)
,, मूलचन्द, ढपाली मोहाल	५०)
जोड़...	१७८४

नाम	रुपये
श्री अयोध्यानाथ तिवारी	३३)
,, जयनारायन राजनरायन	३१)
,, गोकुलचन्द नानकचन्द	३१)
,, बेगराज हरद्वारी मल	३१)
,, देवीदास खत्री	३१)
,, विलासराय बैजनाथ	३१)
,, सीताराम रामगोपाल	२५)
,, मुरलीधर वर्मा	२५)
,, नवलकिशोर वकील	२५)
,, मोहरसिंह बिल्लासिंह	२५)
,, हकीम कन्हैयालाल	३१)
,, बिहारीलाल इलाहाबाद बैंक	२१)
,, छंगामल मंगामल	२१)
,, भग्गा महाराज	२१)
,, रामभरोसे लाल हरगोविंद लाल	२१)
,, शूरजी बल्लभदास	२१)
,, उमराव लाल रामजी लाल	२१)
,, देवी सहाय बल्देव सहाय	२१)
,, रामनिरंजन लाल ओंकारमल	२१)
,, बिन्दा प्रसाद दुबे	२१)
,, चतुर्भुज प्यारे लाल	२१)
,, कन्हैयालाल नवल किशोर	२१)
,, मुन्नालाल मुरलीधर	२१)
,, रामेश्वर मिश्र वैद्य	२१)
,, बिलासराय हरदत्तराय	२१)
,, मद्दीलाल द्वारका प्रसाद	२१)
,, विश्वम्भरनाथ शिवकुमार	१५)
,, मैनेजर मर्चेन्ट प्रेस	१५)
	६६४)

श्री राय पुरुषोत्तमचन्द सरकार ११)
,, श्री कृष्णदत्त पालीवाल ११)
,, डा० प्रसादीलाल झा ११)
,, विश्वम्भर नाथ कौशिक शर्मा ११)
,, जगमोहन गुप्त ११)
,, रमाशङ्कर अवस्थी ११)
,, शिवनारायण मिश्र ११)
,, नारायण प्रसाद अरोड़ा ११)
,, तुलसीराम गुप्त ११)
,, मन्नालाल पांडे ११)
,, गङ्गाराम पूरनमल ११)
, गोविन्दराम भगवानदास ११)
,, शिवनारायण वैश्य ११)
,, हजारीलाल मथुराप्रसाद ११)
,, रामदयाल रामचरनदास ११)
,, अनन्तराम कन्हैयालाल ११)
,, गोबिन्द्राम गनपतराय ११)
,, गोपालदास राधाकृष्ण ११)
,, शीतलप्रसाद श्यामलाल (राधाकृष्ण) ११)
,, प्रो० हीरालाल खन्ना ११)
,, जीवनराम शम्भूनाथ ११)
,, डा० जवाहर लाल ११)
,, सिद्धनाथ बैजनाथ ११)
,, रघुनाथराय झब्बूलाल ११)
,, शिवचरनलाल लालमन ११)
,, आनन्दी प्रसाद चोबे गोला ११)
,, गुप्त दान ११)
,, मुरलीमनोहर दीक्षित ११)
,, सुदर्शनमहाराज नन्दराम ११)
,, महेशदत्त शुक्ल ११)
,, रामप्रसाद मिश्र ११)
,, गोबर्धनदास खन्ना ११)

श्री रामदयाल राधेलाल ११)
,, लल्लूमल शिवरतन ११)
,, ला० चम्पाराम ११)
,, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही ११)
,, किशोरीदत्त वैद्य ११)
,, शङ्कर सहाय भार्गव ११)
,, नवलकिशोर भारतीय ११)
,, रामरतन द्विवेदी ११)
,, सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य्य ११)
,, नारायण प्रसाद निगम ११)
,, बलराम मिश्र ११)
,, ह० बनारसीदास ११)
,, शिवप्रसाद पितंबरलाल ११)
,, बसन्तलाल गुप्त ११)
,, कुन्जबिहारी ११)
,, धनपतराय राम सहाय ११)
,, गुलाबराय पन्नालाल ११)
,, डा० फकीरेराम ११)
,, गङ्गादीन छावनी वाला ११)
,, प्रिन्सिपल दीवानचन्द ११)
,, शीतलप्रसाद श्यामलाल (गोपालदास) ११)
,, तेजनलाल दीनानाथ ११)
,, चन्द्रशेखर शुक्ल ११)
,, डा० मुरारीलाल ११)
,, जीवनलाल मेहरोत्रा ११)
,, बद्रीप्रसाद कपूर ११)
,, मन्नीलाल अवस्थी ११)
,, बालगोबिन्द वैद्य ११)
,, मानसिंह देवीचरन ११)
,, मुक्तिनारायण शुक्ल ११)
,, हरप्रसाद गोयल ११)
,, बन्शीधर अवस्थी ११)
,, श्रीकृष्ण टंडन ११)
,, कन्हैयालाल वैद्य ११)
,, ज्वालाप्रसाद ११)
,, गुरुदीन प्रसाद ११)

श्री शङ्कर सहाय दुबे	११)
„ महाशय काशीनाथ	११)
„ गुप्त दान	१०)
जोड़ ...	७८०)

श्री हर मोहनलाल	५)
„ गिरधारी लाल ब्रह्मदत्त	७)
„ मुन्नालाल नारायनदास	५)
„ प्रेम नरायन वकील	५)
„ हर शङ्कर वकील	५)
„ शिवनारायन	५)
„ गिरधारीलाल गौरी शङ्कर	५)
„ लक्ष्मी नारायण दीक्षित	४)
„ ब्रह्मानन्द त्रिपाठी	३)
„ शिवराम दास बाबूराम	३)
„ लक्ष्मी चन्द्र खोसला	२)
„ हुलासराय	२)
„ राजाराम शुक्ल	२)
„ सी० एल० अय्यर	२)
„ कालिका प्रसाद	२)
„ प्यारेलाल स्टेशन मास्टर	२)
„ ऋषिनाथ जगन्नाथ	१)
„ विट्ठलदास मोहन चन्द	१)
„ परमानन्द मिश्र	१)
जोड़ ...	६७)

दूकानों के किराये से प्राप्त	२७)
१३१ प्रतिनिधियों का शुल्क, ३) प्रतिनिधि के हिसाब से	३९३)
जोड़ ...	४२०)
कुल जोड़...	६७५३)

छः सहस्र सात सौ तिरपन रुपये —

पांच सहस्र नौ सो तिरपन रुपये नक़द तथा आठ सौ की पुस्तकें।

नकद	५९५३)
पुस्तक	८००)
	६७५३)

व्यय का लेखा।

कार्यालय व्यय	१६३६।)।
चन्दा उपसमिति	७८≈)॥
प्रदर्शिनी	५४॥≈)
मण्डप	१४०२≋)॥
आतिथ्यविभाग	१९२३-)॥।
कुल जोड़...	५०९४।≈)

पांच सहस्र चौरानवे ६ आने

कुल आय नकद	—	५९५३)
„ व्यय		५०९४।≈)
शेष ...		८५९॥≈)

शेष-आठ सौ उनसठ रुपये दस आने नकद तथा आठ सौ की पुस्तकें।

इस रकम में से अभी कार्यविवरण की छपाई इत्यादि देनी है।

प्रदर्शिनी विभाग सम्मेलन के अधिवेशन होने के तीन मास पूर्व तोड़ दिया गया था। उसके तोड़ने का कारण यह था कि उसके लिए यथेष्ट संख्या में पुस्तकें नहीं आई थीं।

स्वागत समिति की कार्य-कारिणी समिति

स्वागताध्यक्ष—प० महावीरप्रसाद द्विवेदी
उपाध्यक्ष—म० काशीनाथ
श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी
प० बलभद्रप्रसाद तिवारी
ला० विश्वम्भर नाथ राय बहादुर
ला० छङ्गामल
ला० चम्पाराम
प० महेश दत्त शुक्ल
बा० नारायण प्रसाद अरोड़ा
प्रधान मंत्री - विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक

मंत्री—प० भूदेव विद्यालङ्कार	स० मंत्री—प० भैरवदत्त मिश्र	प्रदर्शिनी विभाग*
मंत्री—प० उदयनारायण बाजपेयी	स० मंत्री—प० भगवती प्रसाद बाजपेयी	साहित्य विभाग
मंत्री—प० रामप्रसाद मिश्र	स० मंत्री—प० चण्डिकाप्रसाद मिश्र	प्रकाशन विभाग
मंत्री—ला० फूलचन्द	स० मंत्री—प० कृपानारायण शुक्ल	अर्थ विभाग
मंत्री—प० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'	स० मंत्री— बाबू जगमोहन गुप्त	आतिथ्य विभाग

मंत्री—बा० रूपचन्द जैन — मण्डप विभाग
मंत्री—प० देवीप्रसाद द्विवेदी —प्रबन्ध विभाग
कोषाध्यक्ष — बा० बेनीमाधव खन्ना

* प्रदर्शिनी के लिये पुस्तकें यथेष्ट न आने के कारण यह भाग तोड़ दिया गया था।

सदस्य

प० रमाशङ्कर अवस्थी
ला० शालिग्राम
ला० श्री कृष्णजी
बा० मनीराम कपूर
प० श्री कृष्णदत्त पालीवाल
प० शिवनारायण मिश्र
प० रघुनन्दन शर्मा
प० अयोध्यानाथ त्रिपाठी
प्रि० दीवानचन्द
प्रो० हीरालाल खन्ना
ला० गङ्गादीन
श्री भगवतीचरण वर्मा
प० राजाराम शुक्ल
प० शिवनन्दन मिश्र
प० मन्नीलाल अवस्थी
डा० जवाहरलाल रोहतगी
डा० महीवर सिंह
ला० बनखण्डोदीन सेठ
प० हरनारायण मिश्र
श्री सुरेशचन्द भट्टाचार्य
बा० नारायण प्रसाद निगम
प० मुर्लीमनोहर दीक्षित
मौ० आज़ाद सुभानी
प० शम्भूनाथ तिवारी
प० मन्नालाल पाण्डे
प० जगजीवनलाल त्रिपाठी
ला० देवीदास

स्वागतकारिणी के लिए चन्दा एकत्रित करने के लिए एक उपसमिति थी जिसका नाम चन्दा-उपसमिति था। इसके १७ सदस्य थे। ये सब सदस्य कार्यकारिणी के सदस्यों में से थे। इसके संयोजक अर्थ मन्त्री ला० फूलचन्द थे।

* समाप्त *

Printed by B. D. Gupta at the Commercial Press, Cawnpore.

PUBLISHED BY

Pt. Vishambhar Nath Sharma 'Kaushik,' General Secretary of
13th Hindi Sahitya Sammelan, Cawnpore.